॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

१३७

चतुःसूत्री-

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्

विमर्शाख्य 'ब्रह्मतत्त्वप्रकाशिका' हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकार

आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

१९६६

THE
VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA
137
*****

BRAHMASŪTRA S'ĀṄKARBHĀṢYA

OF

S'RĪ S'AṄKARĀCHĀRYA

(SŪTRAS 1–4)

EDITED WITH

THE 'BRAHMATATTVAPRAKĀS'IKĀ' HINDĪ COMMENTARY

By

Āchārya Vis'vesvar Siddhānta S'iromaṇi

THE
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI-1
1966

भूमिका

भारतीय दर्शनशास्त्र भारत का प्राण, विश्व का गौरव और मानवसंस्कृति का सार है, उसी ने भारत के धार्मिक एव सामाजिक जीवन का निर्माण किया है, उसी ने विश्व को आध्यात्मिकता का दिव्य सदेश प्रदान किया है और उसी ने चिर अतीत की निर्जीव, निष्प्राण मानव सस्कृति के विश्वव्यापक विशाल शरीर में नवजीवन का सचार कर उसे अनुप्राणित, गौरवान्वित और महान किया है। क्या प्राचीनता की दृष्टि से, क्या व्यापकता एव महत्ता की दृष्टि से और क्या सरलता एव स्वाभाविकता की दृष्टि से सभी दृष्टियों से भारत का दर्शनशास्त्र विश्व साहित्य की एक अनुपम, अतुलनीय एव गौरवमयी विभूति है। विश्व की गूढतम दार्शनिक समस्याओं का जैसा सूक्ष्म समीक्षण, जैसा विशद विवेचन और जैसा उदात्त, व्यापक एवं सुन्दर विश्लेषण भारतीय दर्शनशास्त्र ने किया है वैसी सूक्ष्म समीक्षा, वैसा व्यापक विवेचन और वैसा विशद विश्लेषण विश्व के समग्र साहित्य में दुर्लभ जान पडता है। उसका अन्तस्तल इतना उदार और उसका क्षेत्र इतना व्यापक एव विशाल है कि उससे ससार की समस्त विचारधाराओं का समन्वय बडी सरलता एवं सुन्दरता के साथ हो जाता है। नैरात्म्यवाद के साथ सर्वात्मवाद का, अज्ञेयवाद के साथ विज्ञानवाद का और शून्यवाद के साथ ब्रह्मवाद का त्रिवेणीसगम की भाँति सुन्दर समन्वय इसी क्षेत्र में देखने को मिलता है। कपिल और कणाद इसी देश की दिव्य विभूति हैं, व्यास और पतञ्जलि का दिव्य दर्शन यहीं होता है, महावीर और बुद्ध भगवान की परमपुनीत झाँकी यही दिखाई देती है और शकु एव बृहस्पति ने इसी को अपने दिव्य आलोक से आलोकित किया है। यह सस्कृति ससार का नन्दन कानन और साहित्यिक ससार का सुर-उपवन है, जिसमे विविध आकार-प्रकार, विभिन्न सौन्दर्य एव सुगन्धी के अपरिसख्येय पुण्यप्रसून विकसित हो अपनी सुन्दर सुवास से उद्यान को आमोदित, आवासित और स्पृहणीय बना रहे हैं, जिनके स्वर्गीय सौरभ से ससार का समस्त साहित्यिक वायुमण्डल सुरभित एवं सुवासित हो रहा है।

भारतीय इतिहास के इस गौरवमय अध्याय की रचना अथवा विश्व के सांस्कृतिक नभोमण्डल में इस दिव्य ज्योति का आविर्भाव कब और कैसे हुआ ? विश्व के इतिहासज्ञों के सामने यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है और इसका समाधान करने का साधारणतया अब तक जो कुछ प्रयास उन्होंने किया है वह न उतना सुन्दर ही हुआ है और न वैसा सफल ही उसे कहा जा सकता है जैसा कि होना चाहिए। पाश्चात्य पद्धति के कुछ भारतीय और योरोपीय विद्वानों का विचार है कि भारतीय दर्शनशास्त्र भारतीय साहित्य का अपेक्षाकृत बहुत

आधुनिक भाग है, उसका प्रारम्भिक सूत्रपात बुद्ध भगवान के जन्म से पूर्व, ईसा की लगभग छठी या सातवी शताब्दी बी० सी० में हुआ और लगभग १४ वी शताब्दी तक नवीन साहित्य की सृष्टि इस क्षेत्र मे होती रही। इस प्रकार ईसा के पूर्व छठी शताब्दी से लेकर ईसा की चौदहवी शताब्दी तक के लगभग दो सहस्र वर्षों के बीच ही भारतीय दर्शनशास्त्र का उत्थान और पतन हुआ है, इन दो सहस्र वर्षों के भीतर ही भारत की दार्शनिक विचारधारा का आदि और अन्त समाप्त हो जाता है।

पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय दर्शनशास्त्र के उदयास्त को ऐतिहासिक काल की इस छोटी सी सकीर्ण परिधि में सीमित और आबद्ध करने का जो प्रयास किया है वह हमारे विचार में न तो उचित ही हुआ है और न सुन्दर ही। भारतीय सस्कृति और साहित्य के विषय में पाश्चात्य विद्वानों की इस प्रकार की सकीर्ण एव अनुदार धारणाओं ने वस्तुतः इतिहास के गौरव को क्षति पहुँचाई है और भारतीय दर्शनशास्त्र के साथ अन्याय भी किया है।

दर्शनशास्त्र सत्यानुसन्धान का शास्त्र है। इस विशाल विश्व में जो कुछ सत्य है, जो कुछ ध्रुव और शाश्वत है उसी के अनुसन्धान के लिए, उसी की खोज के लिए दर्शनशास्त्र की सृष्टि हुई है। दार्शनिक सत्यानुसन्धान का क्षेत्र जैसा दुर्गम है वैसा ही विस्तृत भी है। एक तरह से विश्व के समस्त महत्वपूर्ण प्रश्नों और जटिल समस्याओं का समावेश उसके भीतर हो जाता है। जिज्ञासा दर्शन की जन्मभूमि है; अपने चारों ओर दिखाई देने वाले इस विशाल विश्व के स्वरूप और आदि कारण की जिज्ञासा से दार्शनिक सत्यानुसन्धान का प्रारम्भ होता है और आत्मस्वरूप के परिज्ञान में उसकी परिसमाप्ति। यही दोनों दर्शनशास्त्र के आदि और अन्त हैं, इन्हीं दोनों के बाद जैसे विश्व का और सब कुछ समाविष्ट हो जाता है। संक्षेप में, मैं क्या हूँ? यह दृश्यमान विश्व क्या है? हम दोनों कहाँ जा रहे हैं? यही मौलिक प्रश्न है जिनका उत्तर देनेके लिए दर्शनशास्त्र की सृष्टि हुई है।

दर्शनशास्त्र का आधारभूत यह प्रश्न अत्यन्त स्वाभाविक और व्यापक प्रश्न है। ससार का कोई भी विचारशील मस्तिष्क उनसे अछूता नहीं रह सकता। मनुष्य एक विचारशील प्राणी है, उसके मस्तिष्क की प्राकृतिक रचना ही स्वभावतः उसे दार्शनिक विमर्श तथा इन समस्याओं के मनन के लिए बाधित करती है। इसीलिए डाक्टर पालसन ने कहा है कि संसार के प्रत्येक व्यक्ति और जाति के अपने दार्शनिक विचार होते हैं। उनका कितना अंश हेय और कितना अश उपादेय है यह दूसरी बात है, और वह उसकी विचारशक्ति, व्युत्पत्ति और प्रतिभा पर निर्भर है। परन्तु संसार का कोई साधारणतम मनुष्य भी दार्शनिक विमर्श से वंचित नहीं रह सकता यह एक ध्रुव, निश्चित और असन्दिग्ध तथ्य है। हमें तथ्य को दृष्टि में रखते हुए यह कहना चाहिए कि दार्शनिक विचार प्रागैतिहासिक काल की

सम्पत्ति हैं। उनके आदिस्रोत का अनुसन्धान तो ऐतिहासिक काल की सीमा से कहीं पीछे जाकर करना होगा जो प्राथमिक मानवसृष्टि के आरम्भ से लेकर अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में आज तक चला आ रहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि विश्व के इस विशाल प्रागण में मानवजाति की उत्पत्ति एव विचारशक्ति का प्राथमिक सूत्रपात का समय है, क्योंकि आर्यजाति विश्व की प्राचीनतम जाति है, उसकी सस्कृति भारत की सस्कृति है, उसके दार्शनिक विचार भारतीय दर्शनशास्त्र का आधार हैं और वह प्रागैतिहासिक काल की सम्पत्ति है। आधुनिक इतिहास की सकीर्ण सीमा में उन्हें मर्यादित नहीं किया जा सकता।

सृष्टि के प्रारम्भ से इस देश में दार्शनिक विचारधारा का प्रभाव कब किस-किस क्षेत्र में होकर प्रवाहित होना रहा है और किस-किस समय, किस-किस देश में उसमें किस प्रकार के परिवर्तन, परिवर्द्धन तथा सशोधन आदि होते रहे है इस सबका क्रमबद्ध सकलन ही दर्शनशास्त्र का इतिहास है और वह विश्वदर्शन का इतिहास एक अत्यन्त व्यापक महान और गम्भीर विषय है। सृष्टि के आरम्भ से आज तक के दार्शनिक विचारों का क्रमबद्ध विवरण तैयार कर सकना आज एक अत्यन्त दुष्कर कार्य है, परन्तु फिर भी इस समय जो कुछ इतिहास उपलब्ध हो रहा है उसके अनुसार प्राचीन यूनान और भारत इन दो देशों में दर्शन शास्त्र की प्राचीनतम विचारधाराओं के स्वरूप की उपलब्धि होती है। उनके अनुशीलन और पर्यालोचन के आधार पर ही दार्शनिक विचारधारा के क्रमिक विकास का यथार्थ ज्ञान हो सकता है।

दार्शनिक विचारों के लिए यूनान भारत का ऋणी है :

यूनान देश पाश्चात्य सस्कृति का जन्मदाता और योरोपियन दर्शनशास्त्र का आदि प्रवर्तक है। सुदूर अतीत में उसकी मनोरम भूमि और रमणीय उद्यान अनेक शताब्दियों तक विश्वयात्रियों के लिए अपूर्व आकर्षण के स्थान रहे है। विभिन्न देशों के असख्य जिज्ञासुओं ने उस देश के निकुजों में बैठकर अपनी अतृप्त आकाक्षाओं को पूर्ण किया, अपनी आत्माओं को पवित्र किया और अपने देश के कल्याण के लिये संस्कृति का पाठ पढ अपने को कृतार्थ किया था। पाश्चात्य जगत् मे आज ज्ञान-विज्ञान का जो कुछ प्रकाश दिखाई दे रहा है, मूल रूप में वह यूनान की ही देन है। उसमें भी विशेषतया पाश्चात्य देशों के दार्शनिक सिद्धान्तों का निर्माण तो पूर्णतया यूनानी दर्शन के आधार पर ही हुआ है। आज भी पाश्चात्य दर्शनों के इतिहास में सुकरात, प्लेटो और अरस्तू के नाम गौरव के साथ स्मरण किए जाते हैं।

परन्तु यूनानी दर्शन के सिद्धान्त और उनके क्रमिक विकास का अध्ययन करने से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि दार्शनिक विचारों के लिये यूनान भारत का ऋणी है।

यूनान देश के इतिहास से पता चलता है कि यूनान के दार्शनिक विचारो का सूत्रपात वस्तुत यूनान देश में नही अपितु एशिया माइनर मे यूनान के पूर्वीय उपनिवेश मिलटस मे हुआ था। इसी से यूनानी दर्शन का प्रारम्भिक सम्प्रदाय अपनी जन्मभूमि के नाम पर ही मिलेशियन सम्प्रदाय के नाम से विख्यात हुआ है। इस पूर्वीय उपनिवेश मे यूनान के आदि व दार्शनिक थैलेज और अैनग्जीन्डैर को भारतीय विचारों का दिव्य आलोक प्राप्त हुआ जिसने योरोप के दार्शनिक विमर्श का पथ-प्रदर्शन किया और यूनान को दार्शनिक विचारों का आदिगुरु होने का गौरव प्रदान किया।

भारत और यूनान के आदि दार्शनिकों के बीच सिद्धान्तों की ऐसी स्पष्ट समानताएं दिखाई देती है कि जिनको देखते ही देखने वाले का ध्यान उन दोनो देशों के सम्बन्ध की ओर आकृष्ट हो जाता है। दोनों देशों के दार्शनिक सिद्धान्तों की वह स्पष्ट समानताए स्वतन्त्र आलोचना का विषय हैं, उनके विस्तृत विवरण में हम इस समय नही जायेंगे। परन्तु उन सबसे यह बात स्पष्ट है कि यूनान के दार्शनिक विचारो पर भारतीय विचारों की पर्याप्त छाप है। श्रीयुत कोलब्रुक जैसे निष्पक्ष विद्वानों ने भी मुक्तकण्ठ से इस तथ्य को स्वीकार किया है।

'ऐडवर्टिंग टू व्हाट हैज कम टू अस आफ द हिस्ट्री आफ पाइथगोरस आई शैल नाट हैसीटैट टू एकनालिज एन इनक्लीनेशन टू कनसीडर द ग्रीशियन टु हैव बीन इनटैटड टु इण्डियन ऐज देयर इन्स्ट्रैक्टर।'

अर्थात पाइथगोरस का जो कुछ ऐतिहासिक विवरण उपलब्ध होता है उसको देखते हुए मुझे इस बात को स्वीकार करने में सकोच नही करना चाहिए कि यूनानी लोग अपने दार्शनिक विचारों के लिए अपने भारतीय शिक्षको के ऋणी है।

भारत ने यूनान की दार्शनिक विचारधारा को कैसे प्रभावित किया इस विषय का विवेचन करते हुये फिलासफी आफ एनशट इण्डिया के लेखक ने पृ० ३८ पर स्पष्ट रूप से लिखा है कि·

'द हिस्टोरिकल पासिबिलिटी आफ द ग्रीशियन वर्ल्ड आफ थाट बीइङ्ग इनफ्ल्यूएन्स्ड बाई इण्डिया, द मीडियम आफ परशिया मस्ट अनक्वैश्चनेबली ग्रान्टैड, एन्ड विथ इट दि पासिबिलिटी आफ द एबव मैनशन्ड आइडिया बीइङ्ग ट्रासफर्ड फ्राम इन्डिया टु ग्रीस।'

अर्थात यूनान की विचारधारा पर्शिया के माध्यम द्वारा भारतीय विचारधारा से प्रभावित हुई है। इस ऐतिहासिक सम्भावना को निश्चित रूप से स्वीकार करना ही चाहिये और उसके साथ यह भी मानना ही चाहिये कि उपर्युक्त दार्शनिक विचार भारत से ही यूनान में पहुँचे।

इस प्रकार भारतीय एव यूनानी दर्शन को अनेक सैद्धान्तिक समानताओं, दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्ध की ऐतिहासिक सम्भावनाओं और श्री कोलब्रुक आदि निष्पक्ष विशेषज्ञ विद्वानों की तर्कानुमोदित सम्मतियों के आधार पर असन्दिग्ध और निःसङ्कोच भाव से यह कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शनशास्त्र विश्व का प्राचीनतम दर्शनशास्त्र है, उसने न केवल भारतीय सस्कृति का ही निर्माण किया है अपितु सुदूरवर्ती प्राचीन यूनान और उसके द्वारा समस्त विश्व की सस्कृति एव विचारधारा को प्रभावित किया है। इस दृष्टि से भारतीय दर्शनशास्त्र का महत्त्व और विश्वदर्शन का अध्ययन करने वालों के लिए उसका आकर्षण और भी बढ जाता है। भारतीय दर्शन ही विश्वदर्शन का आधार और प्राचीनतम दर्शनशास्त्र है। अतएव इस प्रश्न को अन्त सास्कृतिक और अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व का प्रश्न समझना चाहिए।

भारत का प्राचीनतम वैदिक दर्शन और उसका विकास-क्रम

विश्वदर्शन के इतिहास में भारतीय दर्शनशास्त्र का विकासक्रम जितना अधिक महत्त्वपूर्ण है उतना ही अधिक कठिन और विवादग्रस्त है उसका निर्धारण करना। भारतीय इतिहास में एक समय ऐसा आया है जो ऐतिहासिकों में दार्शनिक काल के नाम से प्रसिद्ध है, ग्रन्थ रूप में इस समय उपलब्ध होने वाले अधिकाश दार्शनिक साहित्य की रचना उसी काल में हुई है। परन्तु दर्शनशास्त्र के उस प्रकृत क्षेत्र में आने से पहिले और ग्रन्थ रूप में दार्शनिक विचारों के सकलित होने के पूर्व भी न जाने कितनी मूक सहस्राब्दियाँ व्यतीत हो गईं जिनके भीतर होकर दार्शनिक विचारधारा का स्रोत अव्यक्त रूप से प्रवाहित होता रहा है, वस्तुत: देखा जाय तो उन मूक सहस्राब्दियों ने भारत के दार्शनिक काल का निर्माण किया है और उस दीर्घ काल में अव्यक्त रूप से क्षीण रूप में जो विचारधारा प्रवाहित हो रही थी, समय पाकर वही दार्शनिक काल में व्यक्त हो गई। प्रकृत क्षेत्र में आने के पूर्व, इस अव्यक्त काल में भारत की दार्शनिक विचारधारा का क्रमिक विकास कैसे हुआ इसका सूक्ष्म विश्लेषण करने के लिए हम उस समस्त काल को वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषत्काल इन चार भागों मे विभक्त करेंगे।

वैदिक काल

भारतीय विद्वानों के मतानुसार तो वेद अनादि हैं, सृष्टि के प्रारम्भ में भगवान की असीम अनुकम्पा से उनका दिव्य आलोक मानव-समाज को प्राप्त हो जाता है। परन्तु पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार भी वर्तमान काल में उपलब्ध होने वाले समस्त विश्व-साहित्य की प्राचीनतम पुस्तक ऋग्वेद है। प्राचीनता एव मान्यता की दृष्टि से वेद ही भारतीय सस्कृति का आधार और ज्ञानसरिता का आदिस्रोत है। भारत के धार्मिक,

सामाजिक, दार्शनिक और राजनैतिक सभी प्रकार के विचारों का निर्माण एकमात्र वैदिक साहित्य के आधार पर ही हुआ है। भारत का धर्म वैदिक धर्म, भारत की सस्कृति वैदिक सस्कृति, और भारत का जीवन वैदिक जीवन है। वेद ही भारत का प्राण है, वेद ने ही भारतीय मस्तिष्क को जीवन दान दिया है और वेद ने ही भारत मे विचारशक्ति का विकास एव भारतीय सस्कृति का निर्माण किया है। अतएव भारतीय दर्शनशास्त्र के प्राचीनतम स्वरूप का परिचय प्राप्त करने के लिए वैदिक साहित्य का आलोचनात्मक अनुशीलन आवश्यक और अनिवार्य है। उससे भारत के प्राचीनतम दार्शनिक विचारों का परिचय प्राप्त होगा और उनके क्रमिक विकास को शृखलाबद्ध करने के प्रयत्न में अत्यन्त सहायता मिलेगी।

वेद और वैदिक साहित्य के विषय मे अनेक पाश्चात्य विद्वानो की अत्यन्त सकीर्ण एव अनुदारतापूर्ण धारणाएँ है, वह वेदो को गडरियों के गीत कहते और उनको अनर्थक प्रलाप-सा मानते हैं। उनमे कोई ऊँचा आदर्श, कोई ऊँची भावना और कोई उदात्त तत्त्व प्रतिपादन किया गया हो यह उनकी कल्पना से बाहर है। तब फिर दर्शनशास्त्र के गूढ तत्त्व और सूक्ष्म सिद्धान्त भी कही वेद मे पाये जा सकते हैं ऐसी सम्भावना उन्हे स्वप्न में भी नही हो सकती। यही नही, अपितु जो लोग वेदों के विषय मे अपेक्षाकृत कुछ उदार विचार रखते हैं उनमें से बहुत कम ऐसे है जो वेदो को उच्च श्रेणी के दार्शनिक तत्त्वों के अस्तित्व की सम्भावना पर विश्वास करते हैं। परन्तु हमारे विचार में वह दोनों ही वस्तुत तथ्य से बहुत दूर हैं। वेदों मे दर्शनशास्त्र के मौलिक प्रश्नों की मीमासा बडे सुन्दर ढङ्ग से की गई है। भिन्न-भिन्न स्थानों पर की गई इस मीमासा के प्रसग में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन वेद मे हुआ है वही दर्शन शास्त्र के आधारभूत सिद्धान्त है और वही वैदिक साहित्य के दार्शनिक विचार कहे जा सकते है। इन सिद्धान्तों मे अनेक सिद्धान्त ऐसे हैं जो उत्तरवर्ती दर्शन-साहित्य के प्रकृत क्षेत्र मे भी लगभग उसी रूप में व्यवहृत एव समादृत हुए हैं और आज के दार्शनिक क्षेत्र मे लगभग उसी रूप में पाये जाते हैं। ऐसे मौलिक सिद्धान्त दर्शनशास्त्र के लिए वैदिक साहित्य की मौलिक एव बहुमूल्य देन हैं। उनके लिये दर्शनशास्त्र वस्तुतः वैदिक साहित्य का अत्यन्त ऋणी है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे विचार भी वेद में पाये जाते हैं जो दार्शनिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं, परन्तु उत्तरवर्ती दार्शनिक साहित्य मे उनका कम उपयोग हुआ है और कहीं कही तो उत्तरवर्ती दार्शनिक साहित्य ने उन विचारों को सर्वथा परित्याग कर नवीन विचारों को स्थान दिया है, अतएव इस प्रकार के सिद्धान्तो को मौलिक मतभेद का सिद्धान्त कहना चाहिए। दार्शनिक विचारधारा के क्रमिक विकास का अध्ययन करने की दृष्टि से

मतभेद के इन सिद्धान्तों का महत्त्व और भी अधिक बढ जाता है, अतएव हम सर्वप्रथम मौलिक मतभेद के प्रधान सिद्धान्त का विवेचन करेंगे।

क्या संसार दुःखरूप है ?

मौलिक मतभेद के जिस सिद्धान्त का विवेचन करने का यत्न हम कर रहे हैं उसके विषय में वेद और उत्तरवर्नी दार्शनिक साहित्य में पर्याप्त अन्तर है। उस अन्तर को हृदयंगम करने के लिए हमें यह बात भली-भाति समझ लेनी चाहिए कि वेद देव का अमर काव्य है। स्वय वेद ने ही अपने को देव का अमर काव्य उद्घोषित किया है।

'पश्य देवस्य काव्यं, न ममार न जीर्यति'

काव्य और दर्शन में जितना भेद होता है, इस मौलिक सिद्धान्त के विषय में वेद और उत्तरवर्ती दार्शनिक साहित्य में लगभग उतना ही भेद है। काव्य पद्यरूप है और दर्शन गद्यरूप। काव्य हृदय की सम्पत्ति है और दर्शन मस्तिष्क की उपज, काव्य का साम्राज्य सौन्दर्य है और दर्शन का सौन्दर्य याथार्थ्य, इसी दृष्टि से वेद और दर्शन ने विश्व को दो भिन्न रूपों में देखा है—विश्वदर्शन के विषय में उनके दृष्टिकोण में वैसा ही मौलिक मतभेद है जैसा कि काव्य और दर्शन में होना चाहिए।

भारत के दार्शनिक क्षेत्र में प्रधान माम्राज्य वैराग्य का है और दोषदर्शन उसका सहकारी है। दर्शनशास्त्र ने जिस अपवर्ग को मानव जीवन का ध्येय माना है उसकी प्राप्ति के लिए अनेक मार्गों का निरूपण उसने किया है परन्तु उन सब में ही सासारिक सुखभोग और ऐश्वर्य के प्रति विरक्ति का होना अनिवार्य और आवश्यक रखा गया है। पूर्ण वैराग्य के बिना वस्तुत· दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में प्रविष्ट होने का अधिकार भी किमी साधक को नहीं है। वैराग्य की इसी भावना को उद्भावित, विकसित और परिपुष्ट करने के लिए दर्शनशास्त्र ने संसार को अत्यन्त हेय और गर्हित रूप में अंकित किया है। संसार वस्तुत· दुःखमय, हेय और एकान्तत· परित्याज्य है। यही दर्शनशास्त्र का प्रधान भाव है, इसी आधारशिला पर दर्शनशास्त्र के विशाल भवन का निर्माण हुआ है। दार्शनिक क्षेत्र से यदि विश्व की दु खस्वरूपता के इस प्रधान भाव को पृथक कर दिया जाय तो वस्तुतः भारतीय दर्शनशास्त्र की आधारभित्ति का ही विलोप हो जाता है। संसार के स्वरूप के विषय में वेद और दर्शन के दृष्टिकोण में यहीं पर काव्य और दर्शन का सा भेद पाया जाता है। दर्शन गद्यरूप है, उसने विश्व को दु·खमय रूप में ही देखा और उसके सुखमय पहलू को जैसे देख कर भी देखना नहीं चाहा है, इस अनन्त और अपरिच्छेद्य विश्व में केवल दु·ख-द्वन्द्व और दैन्य की ओर ही उसने ध्यान दिया है, उसके सुन्दर सुखद स्वरूप को देखने का अवसर जैसे उसे मिल ही नहीं पाया है। सौंदर्य का स्वर्गीय सुखस्वप्न उसे

लुभा नहीं सका, प्रेम, करुणा, त्याग एव बलिदान की दिव्य भावनाएँ भी उसे अपनी ओर आकृष्ट नही कर सकी, इन सबके बीच मे भी वह जैसे इन सब से परे, इन सबसे अलग, इन सबसे ऊँचे, अलिप्त, अविचल, स्थिर रूप में खडा है। ससार का कोई भी प्रलोभन उसे डिगा नहीं सकता। कोई भी आकर्षण उसे लुभा नही सकता। माता के प्यार मे, बालक के मजुल हास्य मे, पक्षियों के मृदुल कलरव मे, उषा के मन्द स्मित में और प्रकृति की निरपेक्ष वदान्यता मे भी उसे बन्धन की गन्ध आती है, उसे भी यह सह नही सकता। रेशम का सुन्दर, सुकोमल वस्त्र अपने मृदुल सुखस्पर्श से जैसे समस्त शरीर के लिए आह्लाददायक होता हुआ भी यदि उसका कोमलतम तन्तु भी ऑख मे पड जाय तो उसके लिए क्लेश का ही कारण हो जाता है इसी प्रकार योगमार्ग के पथिक के चित्त की उपमा अक्षिपात्र से देकर लौकिक सुखो की दु खरूपता का उपपादन दार्शनिक आचार्यों ने किया है। इस मनोवृत्ति ने भारतीय समाज को पूर्ण रूप से व्याप्त कर रखा है। इसी दुर्दान्त भावना के वशीभूत होकर तो माता की स्नेहमयी गोद मे सुखपूर्वक सोये हुए नन्हे से नवजात शिशु की, साम्राज्य के विशाल वैभव की और प्रियतमा यशोधरा के निर्व्याज स्वर्ग-स्नेह की उपेक्षा कर कुमार सिद्धार्थ अर्द्धनिशा के समय क्षण भर में राजप्रासाद का परित्याग कर कटकाकीर्ण वन-मार्ग के पथिक बन गए थे। वैराग्य की इस भावना ने ही राजकुमार सिद्धार्थ को भगवान् बुद्ध के रूप में परिणत किया था। विश्व के कुत्सित एव दु खमय स्वरूप को देख कर उसके प्रति विरक्त हुए बिना कोई भी आत्म-दर्शन का अधिकारी नही बन सका है। विश्व की इसी दु खरूपता से खिन्न होकर उससे बचने के लिए दर्शनशास्त्र ने स्वर्ग या अपवर्ग को अपना ध्येय बनाया है जहॉ दु ख, द्वन्द्व और दैन्य नही हैं, जो आनन्दरूप है, जो अजर और शाश्वत है, जो सत्य, शिव और सुन्दर है। इस एकान्तत दु-खमय विश्व का परित्याग कर उस अलौकिक आनन्द, उस अजर-अमर शाश्वत अमर पद को प्राप्त करना ही मानव जीवन का ध्येय होना चाहिए यही दर्शन-शास्त्र का उपदेश और आदेश है।

परन्तु वेद जो भगवान् का अमर काव्य है, विश्व के सौंदर्य को सुन्दरतम रूप में अंकित करने का प्रयास करता है, उषा का हास्य, सध्या का राग, माता का प्यार और पत्नी का निरपेक्ष समर्पण वेद में बडे सुदरतम रूप मे चित्रित हुए हैं। कारुण्य, वदान्यता, त्याग और सेवा की सुन्दरतम सुकोमल भावनाओं की ऐसी सुखमयी, सुन्दर, सजीव अभिव्यक्ति कहीं अन्यत्र भी अंकित हुई हो इसमें सन्देह ही है। संसार का कोई उज्ज्वल पहलू, विश्व का कोई सुन्दर स्वरूप, कोई उच्च आदर्शभावना ऐसी नही है जिसे वेद ने स्पृहणीय रूप मे अंकित न किया हो। विश्व के स्वरूप के विषय में वेद का दृष्टिकोण ही दूसरा है। विश्व में

दु ख, द्वन्द्व और दैन्य भी है, इससे वेद इन्कार नहीं करता परन्तु उसके कारण ससार को छोड कर भाग जाने का भाव वेद में कही भो अकित नहीं हुआ है। वह तो कायरता है, वैसी कायरता मानव मर्यादा के विपरीत है, इसीसे उनका उपदेश जैसे वेद करना नहीं चाहता। सासारिक दु ख-द्वन्द्वों का वीरता के साथ मुकाबिला करने का भाव ही सारे वेद में आद्योपान्त अंकित हुआ है। शत्रुओं, पापियों और अत्याचारियों के विनाश की प्रार्थना वेद में जगह जगह पर आती है, उसका एकमात्र यही आशय है कि शत्रुओं से प्राप्त होने वाले आधिभौतिक दु खों से अपनी रक्षा करने का मार्ग जंगल में भाग जाना नहीं अपितु तलवार का अपनाना ही है। यही वेद का आदेश जान पडता है। कर्मयोग और कर्म-सन्यास के बीच कर्मयोग का आदेश ही सहिताभाग में प्रधानतया दिखाई देता है। कर्म करो यही वेद का आदेश है, 'चरैवेति चरैवेति' यही वेद का उपदेश है और 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शत समा' यही वेद की सर्वोत्तम शिक्षा है। उसका पालन ही मानव जीवन का सार है।

वैदिक दर्शन की दृष्टि में ससार रहने की चीज है, छोड कर भाग जाने की नहीं। इसीलिए स्वर्गापवर्ग की कल्पना वेद मे स्पष्ट रूप से उपलब्ध नहीं होती। दु ख-द्वन्द्वों की भाँति जो कुछ सुख, शान्ति, सौन्दर्य और आनन्द है वह भी इस मसार में ही है, उससे बाहर नही। जिन्होंने इस दुःखमय ससार से भाग कर उसके बाहर कहीं एक सम्पूर्ण सुखमय स्वर्गलोक की कल्पना करने का प्रयास किया है उनकी वह कल्पना भी एक वृथा विडम्बनामात्र सी जान पडती है। केवल इस पृथ्वी लोक का नाम ही तो ससार नहीं, यह तो विशाल विश्व का एक छोटा सा भाग ही है, विश्व के अगणित लोक-लोकान्तरों की भाँति यदि यह स्वर्गलोक कुछ है भी तो वह ससार की सीमा के बाहर नहीं, उसके अन्तर्गत ही रहेगा। इसी से ससार को छोड कर भाग जाने की सामर्थ्य किसी में है नहीं, उसके लिये प्रयास भी व्यर्थ है। फिर वह जिन्होंने कि ऐसे स्वर्ग लोक में अमृतत्व का लाभ किया है, क्या काम-क्रोध की मानवीय दुर्बलताओं के शिकार नहीं बने हैं? क्या वह आसुरी विभीषा से सत्रस्त नहीं हुए हैं? इसीसे इस पृथ्वी लोक से, इस संसार से भाग कर भी हम दु ख-द्वन्द्वों से बच नहीं सकते। तब फिर उनसे डर कर भागने का प्रयोजन ही क्या है? दु.ख-द्वन्द्वों और विघ्न-बाधाओं के सामने डटकर मस्तक झुकाए बिना अपने को अजेय बना डालना क्या मानव जाति के लिए परम श्रेयस्कर नहीं है? इसी से ससार के दु ख-द्वन्द्वों से घबडा कर भागने का आदेश वेद ने नहीं दिया है। कर्मफल की आकांक्षा का परित्याग कर भगवदर्पणबुद्धि से यावज्जीवन शुभ कर्मों का अनुष्ठान करते हुए अपनी जीवनयात्रा को दृढतापूर्वक पूर्ण करने का प्रयत्न करना चाहिए। यही वैदिक आदेश है। फलाकांक्षा का परित्याग और भगवदर्पणबुद्धि यह दोनों ऐसे अभेद्य कवच हैं कि

दु ख द्वन्द्व और निराशा की भीषणतम ज्वालाओं के बीच खडे होने पर वह साधक का स्पर्श कर नही सकती और साधक के मुखमडल पर कभी भी मालिन्य की छाया दिखाई नही दे सकती। इसलिए फलाकाक्षा को छोड कर भगवदर्पणबुद्धि से कर्मयोग का अवलम्बन कर विघ्न-बाधाओं के सामने अपने को अजेय बनाने का प्रयत्न सदैव करना चाहिए यही मानव जीवन का उद्देश्य है, यही वेद का आदेश, उपदेश और अनुशासन है। यजुर्वेद के ४० वे अध्याय में इसी का प्रतिपादन हुआ है।

ससार के स्वरूप के विषय में वेद और उत्तरवर्ती दर्शनशास्त्र का जो यह मौलिक दृष्टिभेद है; दर्शनशास्त्र के क्रमिक विकास के इतिहास मे उसका बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु आलोचकों ने उसकी ओर यथेष्ट ध्यान नही दिया है। वेद में उपलब्ध होने वाले दार्शनिक सिद्धान्तों में दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है वैदिक साहित्य का अपना उपासना काण्ड।

वैदिक साहित्य भक्तिप्रधान साहित्य है। उसके बहुत बडे भाग में इन्द्र, वरुण, अर्यमा आदि विभिन्न नामों से ईश्वर स्तुति के रूप में भक्ति-भावों का समावेश किया गया है। उत्तरवर्ती दार्शनिक साहित्य के विभिन्न सम्प्रदायों ने स्वर्ग या अपवर्ग मे से जिस किसी को भी अपना ध्येय निश्चित किया है उसकी प्राप्ति के अनुरूप साधनों का निरूपण भी उन्होंने किया है। यह साधन मुख्यत तीन विभागों में विभक्त किए गए हैं और दार्शनिक साहित्य में वही क्रमश. ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग के नाम से विख्यात है। आस्तिक दर्शनों में से पूर्वमीमासा कर्ममार्ग का और साख्य आदि दर्शन ज्ञानमार्ग के अनुयायी माने जाते हैं। उत्तरमीमासा या वेदान्त दर्शन पर दो प्रकार की व्याख्याएँ लिखी गई हैं—एक तो श्रीशङ्कराचार्य की अद्वैतपरक व्याख्या और दूसरी श्री रामानुजाचार्य आदि वैष्णव आचार्यों की द्वैतपरक व्याख्या। श्रीशङ्कराचार्य के अनुसार वेदान्त दर्शन ज्ञानमार्ग का प्रतिपादक है और श्री रामानुजाचार्य आदि वैष्णव आचार्यों के अनुसार भक्तिमार्ग ही उसका प्रतिपाद्य साधन है।

वेद ने इन तीनों साधनों मे से किसको अपनाया है, यह निश्चित रूप से कह सकना कठिन है। तीनों ही प्रकार के भाव भिन्न-भिन्न स्थलों पर अकित हुए जान पडते है, फिर भी वैदिक दर्शन का प्रधान भाव भक्ति जान पडता है। वैदिक सहिताओं का एक बहुत बडा अश ईश्वरोपासना के सुन्दर भावों से ओत-प्रोत है, उसमें भगवान् के अनन्त गुणों का सकीर्तन बडे भक्तिभाव के साथ किया गया है। वेद ने जो इतना अधिक भाग भगवान् के गुणों के सकीर्तन और ईश्वरस्तुति के अर्पण किया है और स्थल-स्थल पर अपने को भगवदर्पण करने का जो सुन्दर भाव चित्रित किया है उसी से जान पडता है कि वेद भक्ति-भाव को प्रधान स्थान दे रहा है। नहीं तो वेद में अपने-अपने स्थान पर ज्ञान, कर्म और

भक्ति तीनों का सुन्दरतम निरूपण हुआ है इसलिये उनमें से किसकी प्रधानता है यह निर्णय करना कठिन हो जाता है। फिर इस विषय में यह बात विशेष रूप से स्मरण रखनी चाहिये कि कर्म और भक्तिरहित कोरा ज्ञान, ज्ञान और भक्तिरहित अकेला कर्म तथा ज्ञानरहित अन्ध भक्ति मानव समाज के लिए घातक सिद्ध हो सकती है और हुई है, इसलिये इन तीनों के यथायोग्य समन्वय में ही मानव समाज का यथार्थ हित है ऐसा समन्वयवादियों का मत है, और वस्तुत उसी का प्रतिपादन वेद ने किया है। मानव समाज में समष्टि और व्यष्टि की इष्टसिद्धि का साक्षात् साधन तो कर्म ही है परन्तु ज्ञान उस कर्म का आधार और भक्ति उसका बल है। यही वैदिक सिद्धान्त का भाव है।

बहुदेववाद या एकेश्वरवाद ?

इसी प्रसङ्ग में एक और विशेष बात है जिसकी ओर ध्यान देना चाहिये। वेद के भिन्न-भिन्न स्थलों पर भिन्न-भिन्न नाम और रूपों में उपास्य देव का स्मरण किया गया है। इन्द्र, मित्र, वरुण आदि अनन्त नाम और रूपों में उसका उल्लेख वेद में मिलता है इसी बात को लेकर पाश्चात्य विद्वानों ने यह मत स्थिर कर दिया है कि वेद का धर्म बहुदेववाद है। उसमें एक ईश्वर का वर्णन नहीं बल्कि अग्नि आदि जिन पदार्थों से मनुष्य ने भय का अनुभव किया उन्हीं को देवता मान कर उस समय के लोगों ने अग्नि की पूजा प्रारम्भ कर दी। इस प्रकार वेद के नाना देवताओं की उत्पत्ति हुई और जड तत्त्वों को देवताओं के रूप में पूजा जाने लगा। यही वेद का धर्म है, उसमें एक ईश्वर की उपासना का कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। वैदिक साहित्य के विषय में यही पाश्चात्य विद्वानों की धारणाओं का सारांश है।

परन्तु उनकी इस बहुदेववाद की धारणा के भीतर औचित्य की मर्यादा की रक्षा कहाँ तक की गई है यही एक चिन्तनीय बात है। इन्द्र, वरुण आदि नाना नामों से युक्त भगवान् का स्मरण जो वेदों ने किया है उसका उपपादन करते हुए स्वयं ऋग्वेद ने लिखा है :

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः सपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

अर्थात् एक ही भगवान् को भक्तगण उनके नाना गुणों के कारण नाना नाम-रूपों से स्मरण करते हैं। कोई उन्हें अग्नि के रूप में स्मरण करता है, कोई इन्द्र-वरुण आदि नामों से उन्हीं का स्मरण करते हैं। इसी मन्त्र के आधार पर श्री यास्काचार्य ने लिखा है :

महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।

स्वय वेद तथा वैदिक व्याख्यानों द्वारा नाना नाम-प्रयोग का स्पष्टीकरण तथा एकेश्वर-

वाद का स्पष्ट प्रतिपादन होते हुए भी वेदों पर बहुदेववाद का आरोप अन्याययुक्त जान पड़ता है।

मौलिक समस्याओं का विवेचन ?

वैदिक साहित्य मे उपलब्ध होने वाले दार्शनिक विचारो मे से ऊपर के दो प्रमुख सिद्धान्त विशेष महत्त्वपूर्ण है, और उत्तरवर्ती दार्शनिक साहित्य से पर्याप्त अश मे भिन्न है इसीलिए सबसे पहले उनका दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु इनके अतिरिक्त दर्शन के प्रकृत क्षेत्र मे समालोचित अन्यान्य महत्त्वपूर्ण दार्शनिक समस्याओ की चर्चा भी वैदिक शास्त्र मे अनेक स्थलों पर हुई है और विशेपतया जिन मौलिक समस्याओं का हल करने के लिए दर्शनशास्त्र की उत्पत्ति हुई है, वैदिक साहित्य ने उन सभी समस्याओ की विशद विवेचना करने का प्रयत्न किया है। यह दृश्यमान जगत क्या है ? कहॉ से आया और कहॉ जायगा ? मै क्या हूँ, इस ससार मे क्यो विचरण कर रहा हूँ, क्या शरीर के साथ ही मेरी उत्पत्ति और विनाश निश्चित हैं या मेरा आदि स्थान और पर्यवसान और कही है ? हम दोनो द्रष्टा और दृश्य, भोक्ता और भोग्य के सिवा क्या इस ससार मे किसी और वस्तु का भी अस्तित्व है ? यही मौलिक प्रश्न हैं जो अनादि काल से मानव मस्तिष्क को परेशान कर रहे हैं। उनका उत्तर समझे बिना हृदय को शान्ति नही होती। मानव जाति के श्रेष्ठतम मस्तिष्कों ने सहस्राब्दियों और लक्षाब्दियों के बीच इन्ही प्रश्नों की मीमांसा करने का जो अनवरत प्रयत्न किया है उसी का साराश निचोड कर दर्शन-शास्त्र में एकत्रित कर दिया गया है। अनादिकाल से सत्यानुसधान के लिए किए गए मानवसमाज के विविध प्रयोगों का इतिहास ही दर्शनशास्त्र के क्रमिक विकास का इतिहास है।

वैदिक साहित्य मे भी दर्शनशास्त्र के इन मौलिक प्रश्नों की मीमासा बहुत विस्तार के साथ अनेक स्थलों पर की गई है जिनमें से ऋग्वेद के नासदीय सूक्त, अस्य वामस्य सूक्त के नाम विशेष रूप से उल्लेख योग्य हैं। यह दोनों सूक्त वेदिक साहित्य के दार्शनिक सूक्त हैं, उनमें आद्यन्त दर्शनशास्त्र की मौलिक समस्याओं की विवेचना की गई है। इनमें से प्रथम नासदीय सूक्त सृष्टिविद्या से सम्बन्ध रखता है और दृश्यमान् जगत् के विषय मे उत्पन्न होने वाली जिज्ञासा का उत्तर देने का प्रयत्न करता है। बाह्य विश्व के विषय मे जिस प्रकार की जिज्ञासा और तर्क-वितर्क आज हमारे सामने उठते हैं ठीक उसी रूप में यह समस्या वैदिक व ऋषियों के सामने भी उपस्थित थी। नासदीय सूक्त ने अत्यन्त सरल और स्वाभाविक रूप में मानव हृदय की उस जिज्ञासा को अंकित किया है।

'कि स्विद् वनं क उ वृक्ष आस, यतो द्यावा पृथिवी निष्टतक्षु.'

वह कौन सा वन है और कौन सा है वह वृक्ष जिससे द्युलोक, पृथ्वी लोक और इस विशाल विश्व का विधाता ने निर्माण किया होगा।

'को अद्धा वेद, क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः'

कौन जानता है और कौन यह बतला सकता है कि यह संसार कहाँ से और कैसे पैदा हुआ और कहाँ जा रहा है ?

विश्वोत्पत्ति से पूर्व की अवस्था का वर्णन करते हुए इसी सूक्त में लिखा है :

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्॥

इस मन्त्र का ठीक अर्थ क्या है यह कह सकना कठिन है। अनेक विद्वानों ने उसका अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। आधुनिक भाषा के शब्दों में यदि कहा जाय तो उसमें वर्तमान छायावाद की छाया सी जान पड़ती है और उसका अर्थ मन्त्र में प्रयुक्त हुए 'गहन गभीर' शब्द के समान सचमुच गहन और गम्भीर सा ही हो गया है। विश्व के आदि-कारण का निरूपण करते हुए शून्यवाद से लेकर ब्रह्मवाद तक जितने कारणों की कल्पना आज तक विभिन्न दर्शनकारों ने की है, भिन्न-भिन्न व्याख्याओं के अनुसार उन सबका ही संकेत इस मन्त्र में मिलता है। इसी से यह मन्त्र दार्शनिक साहित्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रसिद्ध हो गया है। विश्व का वह आदिकारण क्या और किस रूप का है इस विषय में मतभेद होते हुए भी यह निश्चित है कि इस मन्त्र में उस आदिकारण की ओर ही संकेत किया गया है और वही दार्शनिक क्षेत्र में प्रकृति आदि नाना नामों से व्यवहृत हुआ है।

उस अव्यक्त अनादि कारणों से इस नाना नामरूपात्मक व्यक्त जगत् का विकास कैसे हुआ यह एक दूसरा प्रश्न है जो इसके साथ ही उत्पन्न होता है और जिसके विषय में विश्व के विभिन्न धर्मों में भिन्न-भिन्न प्रकार के विचार पाए जाते हैं। यह प्रश्न आदिकारण की जिज्ञासा वाले मूल प्रश्न से भी अधिक कठिन और विवादग्रस्त है, भिन्न-भिन्न धर्मों और दर्शनों में उत्पत्तिवाद और विकासवाद आदि विभिन्न पद्धतियों का अवलम्बन कर इस प्रश्न का समाधान किया गया है। नासदीय सूक्त और अन्य वैदिक साहित्य ने उसका उपादन तप का आश्रय लेकर किया है :

तपसस्तन्महिना जायतैकम्।

विश्व का वह एक आदिकारण केवल तप की महिमा से नाना नाम रूप में परिणत हो गया।

ऋग्वेद के दूसरे वैदिक ऋषि अघमर्षण ने भी—

'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत'

के शब्दों में तप को ही इस विविध विश्व के विकास का प्रयोजन स्वीकार किया है। ब्राह्मण और उपनिषद् आदि उत्तरवर्ती साहित्य में इसी भाव को बोधित करने के लिए अभिध्यान, ईक्षण, काम और सकल्प आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है इससे प्रतीत होता है कि वैदिक साहित्य का तप शब्द लौकिक भाषा में अभिध्यान, ईक्षण या कल्प का पर्यायवाची है। प्रारम्भ में जगत् का आदिकारण एक था, विश्व की वर्तमान विभिन्नता और विलक्षणता उस समय नहीं थी। उस एकता से अनेकता का और उस समानता से विलक्षणता का विकास किसी के तप, अभिध्यान, ईक्षण या सकल्प के द्वारा हुआ।

स ऐक्षत, एकोऽहं बहु स्याम् ।

उसने संकल्प किया कि एक अनेक रूप में परिणत हो।

इस अभिध्यान, तप, ईक्षण या सकल्प के बल से ही जगत् एक आदिकारण से नाना नामरूपात्मक व्यक्त जगत् का विकास हुआ, यही नासदीय सूक्त, अघमर्षण और अन्य आचार्यों का अभिप्राय जान पडता है। बहुत मोटे और लौकिक शब्दों में यदि कहा जाय तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि यह समस्त दृश्यमान जगत् साकल्पिक सृष्टि है।

सांकल्पिक सृष्टि की उत्पत्ति उपादानसापेक्ष भी हो सकती है और उपादाननिरपेक्ष भी। इसी प्रकार उसे मिथ्या भी कहा जा सकता है और सत्य भी। नासदीय सूक्त की व्याख्या और सांकल्पिक सृष्टि के आधार पर ही कदाचित् शंकराचार्य ने और उनके समान विचार रखने वाले अन्य आचार्यों ने ब्रह्म को जगत् का निरपेक्ष अर्थात् अभिन्न निमित्तोपादान कारण माना है और जगत् को व्यावहारिक सत्य तथा परमार्थतः मिथ्या प्रतिपादित किया है। इसी के आधार पर बौद्धों के निरपेक्ष विज्ञानवाद और निरपेक्षतम शून्यवाद की सृष्टि हुई। पुरुष के भोग और अनुभव को अवास्तविक मानने वाले सांख्य सिद्धान्त का आधार भी यही जान पडता है और न्याय आदि दर्शनों की उपादानसापेक्ष सृष्टि का प्रतिपादन करने की सामग्री भी उसमें उपस्थित है। इस प्रकार इस नासदीय सूक्त में दर्शनशास्त्र के अनेकानेक सम्प्रदायों का ही बीज मिल सकता है इसीलिए हम देखते हैं कि उसकी नाना प्रकार की व्याख्याएँ की गईं और उनके आधार पर अनेक सिद्धान्तों का सम्बन्ध इस वेदमन्त्र से जोडा गया है। अनेक विशेषज्ञ विद्वानों का यही मत है कि नासदीय सूक्त में भारतीय दर्शन की अनेक शाखाओं का बीज पाया जाता है।

जीवात्मा का स्वरूप

दर्शनशास्त्र की दूसरी और मुख्यतम जिज्ञासा अपने स्वरूप से सम्बन्ध रखने वाली है। मैं क्या कहूँ? क्या इस दृश्यमान शरीर के साथ ही मेरा आदि और अन्त है? अथवा इस शरीर को छोड देने के बाद भी कहीं मेरा अस्तित्व रहेगा? मैं इस ससार में क्यों आया,

कब तक यहाँ रहूँगा, फिर क्या होगा, कहाँ जाना होगा ? यह सब समस्याएँ हैं जो प्रत्येक विचारशील व्यक्ति के सामने उपस्थित होती हैं, हम अहर्निश उनके विषय में सोचते हैं पर उनका यथेष्ट समाधान हो नहीं पाता। अपने अन्तरंगतम जिस विषय में हमको परिपूर्ण और सूक्ष्मतम बातों का साक्षात् ज्ञान होना चाहिये था उनके विषय में भी जब हम अपने को अभेद्य अन्धकार में भटकता देखते और निकलने के लिये प्रकाश की एक क्षीण रेखा भी कहीं देख नहीं पाते तब हमारी व्याकुलता का पारावार नहीं रहता। मानव हृदय की उसी व्याकुलता का वर्णन ऋग्वेद के अस्य वामस्य सूक्त में बड़े सुन्दर और स्वाभाविक ढंग से किया है।

'मैं नहीं जानता, मैं समझ नहीं पाता कि मैं यह हूँ अर्थात् मेरा स्वरूप क्या है ? मानसिक व्यापत्ति के आवरण से अभिभूत होकर मैं अस्तित्व हीन सा मूढ हो इतस्ततः घूम रहा हूँ।'

'मैं अपने को जान नहीं पाता, अपने स्वरूप को समझ नहीं पाता यह कैसी दयनीय मेरी दशा है। इसी से व्याकुल होकर मैं अनुभवी और विद्वान् महानुभावों से प्रार्थना करता हूँ कि दया कर मुझे अपने निज स्वरूप का परिज्ञान कराइए।'

अस्य वामस्य सूक्त ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का १६४ वाँ सूक्त है, उसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय आत्मा है। एक प्रकार से इस समस्त सूक्त को आध्यात्मिक सूक्त कहना चाहिये। उसमें कुल ५२ मन्त्र हैं और उन सब में आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले अन्य महत्त्वपूर्ण विषयों का वर्णन किया गया है। इस सूक्त के द्रष्टा ऋषि का नाम दीर्घतपा है। ऊपर के दोनों मन्त्रखण्ड इसी अस्य वामस्य सूक्त से लिए गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें वस्तुतः हमारे हृदय को व्याकुलता ही जैसे घनीभूत होकर प्रतिबिम्बित हो रही हो। आत्मभाव की यह जिज्ञासा नित्य है। हमारे हृदय में आज भी ठीक उसी रूप में उदित होती है जिस रूप में वह दीर्घतपा के हृदय में उदय हुई थी, परन्तु अपनी उस जिज्ञासा का समाधान हम कर नहीं पाते मानों आज हम इसीलिए नास्तिकता के प्रवाह में विलीन कर देते हैं।

हमारे हृदय की इसी आत्मजिज्ञासा का वर्णन और उसका समाधान दीर्घतपा ऋषि ने इस सूक्त में प्रस्तुत किया है। आत्म-जिज्ञासा का जैसा सुन्दर और करुण चित्र इस सूक्त में अङ्कित किया गया उसका साधन भी वैसा ही सुन्दर एवं हृदयग्राही बन पड़ा है। आत्मदर्शन के विषय और उससे सम्बन्ध रखने वाली अन्य मुख्य बातों का ऐसा यथार्थ एवं प्रौढ़ वर्णन इस सूक्त में हुआ है कि उत्तरवर्ती दार्शनिक साहित्य ने उन सब तत्त्वों को विना किसी संकोच के लगभग उसी रूप में अपना लिया है। इसीसे आत्मतत्त्वविषयक सिद्धान्तों

में वैदिक एवं दार्शनिक साहित्य में आश्चर्यजनक समानता दिखाई देती है और वह समानता सर्वथा स्वाभाविक ही है।

आत्मा का विषय भारतीय दर्शनशास्त्र का प्रधानतम और अत्यन्त विवादग्रस्त प्रश्न है। देह से अतिरिक्त आत्मा का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व है या नही, इस विषय को लेकर भारत मे बडे-बडे विवाद हुए है। उसी के आधार पर आस्तिक और नास्तिक के भेदभाव की सृष्टि हुई, उसी के आधार पर विभिन्न सम्प्रदायों की रचना हुई और उसी के आधार पर उत्कट मनोमालिन्य एव भोषण विरोध का अवसर भी अनेक बार उपस्थित हो चुका है। भारत का आस्तिक सम्प्रदाय देहादि से अतिरिक्त आत्मा की सत्ता स्वीकार करता है और जीवित शरीर मे पाई जाने वाली प्रत्येक चेष्टा का कारण उसी को मानता है। आत्मा के विषय मे लगभग इसी प्रकार के विचार इस अस्य वामस्य सूक्त के ३० वे मन्त्र मे अङ्कित किये गये हैं।

विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से यह मन्त्र दो भागो में विभक्त किया जा सकता है। मन्त्र के पूर्वार्द्ध में शरीर की अनित्यता और सारहोनता का वर्णन कर उत्तरार्द्ध मे देहातिरिक्त आत्मा का अस्तित्व, उसकी नित्यता और पुनर्जन्म आदि मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। मन्त्र का भावार्थ तथा शब्दार्थ इस प्रकार है :

'प्राणी के जीवन काल में यह शरीर अनत् श्वास-प्रश्वासयुक्त, और एजत् गतिविधि-सम्पन्न होकर भले ही तुरगातु अश्व के समान सचेष्ट हो सासारिक व्यापारों का सम्पादन करता रहे परन्तु जीवनलीला की समाप्ति के बाद तो वह पस्त्यानाम् गृहों के मध्य जहाँ कहीं पडा है वही ध्रुव निष्क्रिय और निश्चेष्ट जड पडा रहता है। इम प्रकार मन्त्र के पूर्वार्द्ध में देह की सारहीनता का प्रतिपादन किया गया है। उत्तरार्द्ध के भी दो विभाग कर लेने चाहिये। चौथे पाद में जीव के स्वरूप का वर्णन तथा तीसरे पाद मे कर्मविपाक एव पुनर्जन्म सिद्धान्त का सकेत किया गया है। जीवात्मा अमर्त्य नित्य और अमरणधर्मा है। चर्मचक्षुओं से देखने पर तो वह मर्त्य इस विनश्वर शरीर से भिन्न प्रतात नही होता परन्तु वस्तुत. मर्त्येनासयोनि मरणधर्मा शरीर से सर्वथा भिन्न और अजर-अमर है। मृतस्य मर जाने पर वह आत्मा इस विनश्वर शरीर को पडा छोडकर स्वधाभि' अपने कर्मों के अनुरूप विभिन्न योनियों में विचरण करता है।'

भारतीय दर्शन-शास्त्र का क्रमिक विकास किस प्रकार हुआ इसका अध्ययन करने के लिए हमें प्राचीनतम दार्शनिक सिद्धान्तों का अनुसधान करने की आवश्यकता है। इसीलिये वैदिक साहित्य जो कि न केवल भारत का अपितु विश्व का प्राचीनतम साहित्य है उसका आलोचनात्मक अनुशीलन किये विना दार्शनिक विकास मार्ग को समझ सकना संभव नहीं

है। इसीलिये हमने प्रधानतया ऋग्वेद के आधार पर वैदिक साहित्य में उपलब्ध होने वाले दार्शनिक विचारों के संकलन करने का प्रयत्न किया है। ऋग्वेद के जिन सूक्तों का उल्लेख इस प्रकरण में हुआ उनके अतिरिक्त अन्य अनेक स्थल ऋग्वेद तथा अन्य वेदों में उपलब्ध होते हैं, जिनका महत्व दार्शनिक दृष्टि से बहुत अधिक है। इनमें से यजुर्वेद का ४० वाँ अध्याय तो इतना अधिक महत्त्वपूर्ग है कि लगभग सारा का सारा अध्याय ज्यों का त्यों उपनिषद् के रूप में उत्तरवर्ती साहित्य में सम्मिलित कर लिया गया है। जो लोग यह समझते हैं कि वेद में दार्शनिक विषयों की चर्चा नहीं हुई है वह वस्तुत' उनके साथ अन्याय करते हैं।

सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो दर्शन शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाली सभी मौलिक समस्याओं का सुन्दर और सूक्ष्म विवेचन वैदिक साहित्य में हुआ है और उनमें से मुख्य-मुख्य लगभग सभी विषयों के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य ने जो समीक्षा की है, उत्तरवर्ती दार्शनिक साहित्य में उसकी प्रतिच्छाया स्पष्ट दिखाई देती है। उषःकाल में अनुदित आदित्यमडल अपनी विचरणशील उज्ज्वल दीप्ति से नभोमडल को जैसे आरक्त और उद्भासित करता है इसी प्रकार दर्शनशास्त्र के प्रकृतक्षेत्र के पीछे वैदिक साहित्य ही मानों दार्शनिक नभोमडल को उद्भासित एव आलोकित कर रहा है।

संक्षेप में यदि कहा जाय तो दर्शनशास्त्र की मौलिक समस्याओं का समाधान करने के लिए वेद के तीन तत्वों की सत्ता स्वीकार की है। विश्व के स्वरूप तथा आदि कारण की जिज्ञासा का समाधान उन्होंने प्रकृति तथा ईश्वर का अस्तित्व मान कर किया है और आत्म-जिज्ञासा की निवृत्ति के लिये देहादिव्यतिरिक्त नित्य आत्मा का अस्तित्व माना है। प्रकृति जगत् का उपादान कारण, ईश्वर निमित्त कारण और जीवात्मा उसका भोक्ता है। यह तीनों नित्य पदार्थ हैं, उनमें से ईश्वर और जीव चेतन तथा प्रकृति अचेतन है। सक्षेप में यही वैदिक दर्शन का सार है, जो वैदिक साहित्य के विशाल कलेवर में से यत्नपूर्वक सग्रह किया जा सकता है। स्वय ऋग्वेद ने एक ही मन्त्र में वैदिक साहित्य के सारे दार्शनिक तत्त्व को सचित करके रख दिया है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

यह मन्त्र भी ऋग्वेद के अस्य वामस्य सूक्त का है, इसमें जैसे वैदिक दर्शन का समस्त मधुसञ्चय कर दिया गया है। अधकार रूप से उसमें एक वृक्ष पर बैठे दो पक्षियों का वर्णन है जिनमें से एक उस वृक्ष के फलों का आस्वादन कर रहा है और दूसरा आस्वादन न करता हुआ सुशोभित हो रहा है। यह दोनों पक्षी क्रमशः जीव और ईश्वर तथा यह वृ

प्रकृति है। इस प्रकार थोडे से गिने-चुने शब्दों में दर्शन-शास्त्र के विस्तृत और गहन अर्थसमूह का संग्रह कर वेद ने वस्तुतः गागर में सागर भर दिया है। वैदिक साहित्य में यदि अन्यत्र कहीं भी दार्शनिक विचारों का उल्लेख न होता तो केवल यह मन्त्र ही वेद के दार्शनिक मत को स्पष्ट करने में पर्याप्त था।

विश्वेश्वर

विषय-सूची

अथ वेदान्तदर्शनम्

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्

'ब्रह्मतत्त्वप्रकाशिका' व्याख्योपेतम्

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्न्योऽभिचाकशीति ।।

व्याख्यातप्रायाः प्रथिताः प्रबन्धाः साहित्यशास्त्रेऽप्यथ गौतमीये ।
वेदान्त-सिद्धान्त-विवेचनाय-व्याख्यायते शाकरभाष्यमेतत् ।।

नामकरण—वेदान्त दर्शन दार्शनिक साहित्य मे सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमुख दर्शन माना जाता है। वैदिक साहित्य के अन्त मे जिसकी रचना हुई है वह उपनिषत् साहित्य मुख्य रूप से वेदान्त शब्द से कहा जाता है। फिर उपनिषद् साहित्य की व्याख्या के लिये जिन ब्रह्मसूत्रादि की रचना हुई उनको भी वेदान्त पद से कहा जाने लगा। इस साहित्य मे मुख्यतः उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र इन तीन का समावेश होता है। इन तीनो का सम्मिलित नाम 'प्रस्थानत्रयी' है। 'प्रस्थान' शब्द का अर्थ है—'प्रतितिष्ठति ब्रह्मविद्या येषु'—जिनके ऊपर ब्रह्म विद्या आधारित है—उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र इन तीनो ग्रन्थों को मिलाकर 'प्रस्थानत्रयी' नाम से कहा जाता है, इसलिये ये तीनो वेदान्त के आधार स्तम्भ माने जाते है। वेदान्तसार के निर्माता श्री सदानन्द ने वेदान्त शब्द का अर्थ करते हुये लिखा है 'वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाण तदुपकारीणि च शारीरकसूत्रादीनि' अर्थात् मुख्य रूप से उपनिषद् और उसके समझने मे उपकारक या सहायक रूप शारीरक सूत्र आदि साहित्य वेदान्त नाम से कहा जाता है।

उपनिषदो का विषय अध्यात्म विद्या से सम्बन्ध रखता है। इस अध्यात्म विद्या के दो अग है—एक जीवात्मा का विवेचन और दूसरा परमात्मा का विवेचन। जीवात्मा और परमात्मा दोनो का विवेचन करने वाली विद्या 'अध्यात्म विद्या' कही जाती है। उपनिषदो मे मुख्य रूप से इन्हीं दोनो तत्त्वों का विवेचन किया गया है इसलिये वे अध्यात्म विद्या के ग्रन्थ माने जाते हैं। उपनिषदों में

कुछ प्रसग ऐसे आ जाते है जहाँ यह बात स्पष्ट नहीं हो पाती कि यहाँ जीवात्मा का प्रतिपादन है या परमात्मा का अथवा अमुक शब्द जीवात्मा का वाचक है या परमात्मा का। ऐसे सदिग्ध या विवादग्रस्त स्थलो का विवेचन करके उन-उन स्थलों के स्पष्टीकरण का प्रयत्न वेदान्त सूत्रो मे किया गया है इसीलिये वे उपनिषत् साहित्य के समझने मे सबसे अधिक सहायक माने जाते हैं, और अब उपनिषद् से भी अधिक स्पष्ट होने से व्यासमुनिप्रणीत इन सूत्रो को ही वेदान्त दर्शन नाम से कहा जाता है।

दार्शनिक साहित्य मे वेदान्त दर्शन के लिये अनेक नाम प्रचलित है जिनमे से तीन नामों का प्रयोग हम ऊपर कर चुके हैं—१. वेदान्त दर्शन, २. ब्रह्मसूत्र, ३. शारीरक सूत्र। वेदान्त दर्शन सामान्य और व्यापक नाम है, जिसमे ब्रह्मसूत्र या शारीरक सूत्र के साथ-साथ उपनिषद् का भी समावेश किया जा सकता है। ब्रह्मसूत्र तथा शारीरक सूत्र इन दोनो नामो से केवल व्यासमुनि-प्रणीत सूत्रों का ही ग्रहण होता है। ये दोनो नाम वैयासक सूत्रो के ही है और उनमे प्रतिपादित विषय के आधार पर रखे गये है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि उपनिषदों मे परमात्मा और जीवात्मा इन दोनो तत्त्वो का प्रतिपादन है इसलिये वैयासक सूत्रो मे भी इन दोनो तत्त्वो का प्रतिपादन स्वाभाविक ही है। परमात्मा के लिये उपनिषदों मे 'ब्रह्म' शब्द अधिक प्रचलित है। ब्रह्म शब्द 'बृहि वृद्धौ' धातु से बना है। सबसे बड़ा अर्थात् सर्वव्यापक, विभु, सर्वशक्तिमान् और नित्य तत्त्व होने से परमात्मा अथवा ईश्वर के लिये उपनिषदो मे ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी ब्रह्म तत्त्व या ईश्वर का प्रतिपादन व्यासमुनि-प्रणीत वेदान्त सूत्रो मे भी किया गया है इसलिये वेदान्त सूत्रो को ब्रह्मसूत्र कहा जाता है। अध्यात्म विद्या के रूप मे उपनिषदो का दूसरा प्रतिपाद्य विषय जीवात्मा है। जीवात्मा प्राणियों के शरीरों मे रहने वाला, शरीरो का सचालन करने वाला, परमात्मा से भिन्न, अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् आत्मा है इसलिये उपनिषदों और वेदान्त सूत्रों मे उसके लिये 'शारीरः' शब्द का प्रयोग किया गया है। शारीरः शब्द का अर्थ है—'शरीरे भवः शारीरः' अर्थात् शरीर मे रहने वाला जीवात्मा 'शारीर' कहलाता है। उपनिषदो के आधार पर वेदान्त सूत्रों मे इस शारीर आत्मा अर्थात् जीवात्मा का विवेचन भी किया गया है। इसीलिये वेदान्त सूत्रों को 'शारीरक सूत्र' नाम से भी कहा जाता है। शारीरक शब्द में शारीर शब्द से स्वार्थ मे 'क' प्रत्यय किया गया है। अर्थात् 'शरीरे भवः शारीरः, शारीर एव शारीरकः'—शरीर में रहने वाला जीवात्मा ही 'शारीर' अथवा 'शारीरक' नाम से कहा जाता है। उसका प्रतिपादन करने के लिये जिन

वैय्यासक सूत्रों की रचना हुई है, वे 'शारीरक सूत्र' कहे जाते हैं। वेदान्त सूत्रो के लिये जो 'ब्रह्मसूत्र' और 'शारीरक सूत्र' इन दो नामो का प्रयोग होता है वह स्पष्ट बतलाता है कि उनमे तथा उनके आधारभूत उपनिषद् ग्रन्थो मे 'ब्रह्म' तथा 'शारीर' अर्थात् परमात्मा तथा जीवात्मा दोनो तत्त्वो का प्रतिपादन किया गया है। इसीलिये वे ब्रह्मसूत्र तथा शारीरक सूत्र नाम से कहे जाते है।

व्यासमुनिप्रणीत सूत्रों के लिये एक 'वेदान्त सूत्र', दूसरा 'ब्रह्मसूत्र', तीसरा 'शारीरक सूत्र' इन तीन शब्दो का प्रयोग हम ऊपर दिखला चुके हैं। इनके अतिरिक्त वेदान्त सूत्रो के लिये एक चौथा शब्द और प्रयुक्त होता है। वह है 'उत्तरमीमासा'। 'मीमांसा' शब्द से दो ग्रन्थो का ग्रहण होता है। एक जैमिनिप्रणीत सूत्रग्रन्थ का, दूसरा व्यासमुनिप्रणीत सूत्रग्रन्थ का। वैदिक साहित्य मे मूल सहिताग्रन्थो के बाद ब्राह्मण तथा उपनिषद् दो प्रकार का महत्त्वपूर्ण साहित्य पाया जाता है। ब्राह्मण साहित्य का विषय मुख्यतः कर्मकाण्ड है और उपनिषत् साहित्य का विषय मुख्यत अध्यात्म विद्या ज्ञानकाण्ड है। ब्राह्मण और उपनिषद् के बीच मे वैदिक साहित्य का एक अंग और रह जाता है जिसे 'आरण्यक साहित्य' कहा जाता है। यह कर्म और ज्ञान मार्ग के बीच की शृंखला को जोड़ने वाला साहित्य है। ब्राह्मण ग्रन्थों के कर्मकाण्ड से उपनिषदों के ज्ञानकाण्ड का विकास कैसे हुआ इसकी शृंखला 'आरण्यक साहित्य' मे पाई जाती है। 'ब्राह्मणों का कर्मकाण्ड सब प्रकार के साधनसम्पन्न गृहस्थों के द्वारा ही साध्य है क्योकि बड़े-बड़े यज्ञों मे अनेक प्रकार के साधनों की आवश्यकता होती है और उनका सम्पादन प्रायः पत्नी के साथ ही होता है इसलिये वह गृहस्थो के लिये ही अधिक उपयुक्त है। वनों मे रहने वाले आरण्यक एकाकी तपस्वियो के लिये उनकी वैसी उपयोगिता नहीं है। कर्मकाण्ड का प्रेरक हृदय की अन्तर्वर्त्तिनी भक्ति है। भक्ति अन्तर्वर्त्ती मानसिक व्यापार है। कर्मकाण्ड उसी भक्ति का बाह्य प्रदर्शन है। भक्ति की भावना जैसे सद्गृहस्थों मे होती है ऐसे ही आरण्यक तपस्वियो मे भी। सद्गृहस्थ साधनसम्पन्न होने से अपनी भक्तिभावना को अनेक प्रकार के कर्मकाण्ड द्वारा अभिव्यक्त करते हैं। उनकी अन्तर्वर्त्तिनी मानसिक-व्यापाररूपा भक्ति के बाह्य प्रदर्शन के परिणाम रूप मे ही कर्मकाण्ड का विकास हुआ। एकान्त शान्त तपोवनो मे रहने वाले तपस्वियों को अपनी भक्तिभावना की अभिव्यक्ति के लिये उतने साधन सुलभ नहीं हैं इसलिये उन्होने उस कर्मकाण्ड को फिर से मानसिक व्यापार का रूप दिया और कल्पना में प्रतीक की उपासना द्वारा कर्मकाण्ड को चरितार्थ करने का यत्न किया। जैसे अश्वमेध याग की जगह उन्होंने प्रकृति मे अश्वमेध की कल्पना की। 'उषा ह वै

अश्वस्य मेध्यस्य शिरः'—उषा को अश्वमेध याग के अश्व का शिर माना। इस प्रकार ब्राह्मणकाल मे जो कर्मकाण्ड अनेक प्रकार के साधनो की अपेक्षा रखता था, आरण्यक साहित्य मे वन मे रहने वाले तपस्वियो ने उसे प्रतीकोपासना के रूप मे मानस व्यापार द्वारा सम्पादन करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। वन मे रहने वाले तपस्वियों के लिये उपयोगी होने से ही इस मध्यवर्त्ती साहित्य को 'आरण्यक-साहित्य' नाम से कहा जाता है। इसी से आगे चलकर उपनिषदो के ज्ञानमार्ग का विकास हुआ। इस प्रकार कर्मकाण्ड के रूप मे ब्राह्मण ग्रन्थों मे जो कुछ विवेचन किया गया है उसकी व्याख्या या मीमासा जैमिनिप्रणीत मीमासा सूत्रो मे की गई है। उन्हे 'पूर्वमीमासा' नाम से कहा जाता है। उसके बाद उपनिषदों के ज्ञानकाण्ड का विवेचन और उनके प्रतिपाद्य विषय जीवात्मा तथा परमात्मा का प्रतिपादन व्यासमुनि-प्रणीत जिन सूत्रो के किया गया है उनको 'उत्तर-मीमासा' नाम से कहते है। 'मीमासा' शब्द का अर्थ है पूजित विचार, उत्तम कोटि का विचार। ब्राह्मण ग्रन्थ जैमिनिप्रणीत सूत्रो का आधार पूर्वकालिक ब्राह्मण ग्रन्थ हैं इसलिये उनको पूर्वमीमासा कहा जाता है। व्यासमुनि प्रणीत सूत्रो का आधार उत्तरकालिक उपनिषत्-साहित्य है इसलिये उन्हे उत्तर-मीमासा नाम से कहा जाता है। इस प्रकार दार्शनिक साहित्य मे व्यासमुनि-प्रणीत इन सूत्रो के लिये १. वेदान्त सूत्र, २. ब्रह्मसूत्र, ३. शारीरक सूत्र, ४. उत्तर-मीमांसा इन चार नामो का प्रयोग होता है और वे सब नाम सार्थक एवं अत्यन्त उपयुक्त है।

ग्रन्थ-विभाग—

वेदान्त दर्शन की रचना सूत्र रूप मे हुई है। इसमे कुल ५५४ सूत्र हैं। ग्रन्थकार ने विषय की दृष्टि से इन सूत्रो को चार अध्यायों मे विभक्त किया है और विषयानुसार उनके अलग-अलग नाम रखे है। उनमे से प्रथम अध्याय 'समन्वयाध्याय' के नाम से प्रसिद्ध है। द्वितीय अध्याय 'अविरोधाध्याय' कहलाता है। तृतीय अध्याय 'साधनाध्याय' नाम से और चौथा अध्याय 'फला-ध्याय' नाम से कहा जाता है। इन अध्यायों के नामकरण से ही उनके विषय का बहुत कुछ आभास मिल जाता है। प्रथम अध्याय के आरम्भ मे 'ब्रह्म-जिज्ञासा शास्त्र' अर्थात् ब्रह्मविचार शास्त्र के आरम्भ की प्रतिज्ञा की है। द्वितीय सूत्र 'जन्माद्यस्य यतः' मे जगत् के जन्मादि का हेतुभूत तत्त्व ब्रह्म (ईश्वर) यह ब्रह्म का लक्षण किया गया है। शेष अध्याय मे यह दिखलाया गया है कि वही ब्रह्म या ईश्वर समस्त श्रुतियो का प्रतिपाद्य विषय है क्योकि उसी में विभिन्न शास्त्रो एवं श्रुतियों का 'समन्वय' होता है इसलिये इस प्रथम

अध्याय का नाम समन्वयाध्याय रक्खा गया है। द्वितीय अध्याय मे जगत्कारण के विषय मे पाये जाने वाले स्मृति, तर्क आदि से अविरोध का उपपादन और जहा विरोध ही आ रहा हो वहां स्मृति, तर्क आदि की दोषग्रस्तता का प्रतिपादन किया गया है। अविरोध के उपपादन का प्रयत्न द्वितीय अध्याय मे विशेष रूप से किया गया है इसलिये इस द्वितीयाध्याय को 'अविरोधाध्याय' नाम से कहा जाता है। तृतीय अध्याय मे मोक्ष के साधनभूत वैराग्य आदि का विवेचन किया गया है इसलिये उसका नाम 'साधनाध्याय' है और चौथे अध्याय में मोक्ष आदि का वर्णन है इसलिये उस अध्याय को 'फलाध्याय' नाम से कहा गया है। यह सक्षेप में इन चारो अध्यायों के विषय का विभाग है।

इस प्रकार ग्रन्थकार ने अपने प्रतिपाद्य विषय को चार अध्यायों मे विभक्त करने के बाद फिर प्रत्येक अध्याय को चार-चार पादो मे विभक्त किया है और उनकी रचना मे अवान्तर विषयो का समावेश बडे सुन्दर ढंग से किया है। जैसे प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में ब्रह्मविषयक अस्पष्ट उपनिषद्वाक्यो को संग्रह करके उनकी व्याख्या की गई है और प्रबल हेतुओ द्वारा यह सिद्ध किया है कि उन अस्पष्ट ब्रह्मलिङ्गक श्रुतियो का समन्वय ब्रह्म या ईश्वर की जगत्कारणता के विषय मे होता है। द्वितीय और तृतीय पादो मे स्पष्ट ब्रह्मलिङ्गक श्रुतियो का सग्रह और विवेचन किया गया है किन्तु उनको दो पादो मे अलग-अलग इस प्रकार विभक्त किया गया है कि द्वितीय पाद मे केवल उपास्य ब्रह्म अर्थात् ईश्वर का विवेचन है और तृतीय पाद मे ज्ञेय ब्रह्म अर्थात् जीव का वर्णन हुआ है। इस प्रकार दो पादो मे ईश्वर और जीव (उपास्य ब्रह्म तथा ज्ञेय ब्रह्म) परक श्रुतियों का समन्वय दिखाया गया है। इन तीन पादों मे तो वाक्यो का समन्वय दिखलाया गया है किन्तु चौथे पाद मे वाक्यो के स्थान पर अज, अजा, अव्यक्त आदि एक-एक पद का समन्वय दिखलाया गया है। इस प्रकार प्रथम अध्याय के चारों पादो का विभाजन अलग-अलग किया गया है, किन्तु वे चारो पाद समन्वयात्मक दृष्टि को लेकर लिखे गये हैं इसलिये समष्टिरूप से प्रथमाध्याय को 'समन्वयाध्याय' नाम से कहा जाता है। इसी प्रकार की सुश्लिष्ट एवं सुव्यवस्थित रचना अन्य तीनो अध्यायों के चारो पादो मे भी पायी जाती है। उनके चारो पादो मे भी अलग-अलग विषयो का सग्रह है जैसे द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद को 'स्मृतिपाद' नाम से और द्वितीय पाद को 'तर्कपाद' के नाम से कहा जाता है। इनमे क्रमशः स्मृति वाक्यों से तथा तर्क से अविरोध दिखलाकर अथवा स्मृति और तर्क के शास्त्रविरोधी होने पर उनकी अप्रामाणिकता का प्रतिपादन कर ब्रह्म (ईश्वर) की जगत्कारणता का उपपादन किया गया है।

यह वेदान्त दर्शन की रचना शैली है। वैयासक न्यायमालाकार श्री भारती-तीर्थ मुनि ने वेदान्त सूत्रो की इस विषय-विभाग पद्धति का विवेचन करते हुये निम्न श्लोक लिखे है—

शास्त्र ब्रह्मविचाराख्यमध्यायाः स्युश्चतुर्विधा ।
समन्वयाविरोधौ द्वौ साधन च फल तथा ।।

समन्वये स्पष्टलिङ्गमस्पष्टत्वेऽप्युपास्यगम् ।
ज्ञेयग पदमात्र च चिन्त्यं पादेष्वनुक्रमात् ।।

द्वितीये स्मृतितर्काभ्यामविरोधोऽन्यदुष्टता ।
भूतभोक्तृश्रुतेर्लिङ्गश्रुतेरप्यविरुद्धता ।।

तृतीये विरतिस्तत्त्व पदार्थपरिशोधनम् ।
गुणोपसहृतिर्ज्ञानबहिरङ्गादिसाधनम् ।।

चतुर्थे जीवतो मुक्तिरुत्क्रान्तेर्गतिरुत्तरा ।
ब्रह्मप्राप्तिब्रह्मलोकाविति पादार्थसग्रहः ।।

वेदान्त सूत्रो के अध्याय एव पाद के विभाजन के अतिरिक्त इनसे छोटा एक और विभाग है जिसे 'अधिकरण' नाम से कहा जाता है। इन अधिकरणो की रचना एक या अनेक सूत्रों को मिलाकर हुई है। अधिकरण का अर्थ प्रकरण है। एक प्रकरण या एक विषय का प्रतिपादन जितने सूत्रो मे मिलकर परिपूर्ण होता है उन सब सूत्रो की समष्टि को 'अधिकरण' कहते है। ये अधिकरण कहीं एक-सूत्रात्मक भी है जैसे प्रथमाध्याय के प्रारम्भ के चार अधिकरण एक-एक सूत्र से बने हुये एकसूत्रात्मक अधिकरण हैं और शेष सारे अधिकरण अनेकसूत्रात्मक हैं। उनमे विषय के अनुसार कहीं चार-छह, कहीं आठ-दस सूत्रो का समावेश है। इन सभी अधिकरणो की रचना मे एक विशेषता पायी जाती है, वह है उनकी पचावयवरूपता। प्रत्येक अधिकरण के पाँच भाग है। सबसे पहले जिस उप-निषद्वाक्य को विचार के लिये उठाया गया है उसका संकेत अधिकरण के आरम्भ मे मिलता है। यह अधिकरण का प्रथम अवयव है जिसे 'विषय' नाम से कहा जाता है। इसके बाद इस 'विशय' वाक्य के सम्बन्ध मे क्या सन्देह है जिससे उसके विचार की आवश्यकता पड़ी इस बात का विवेचन किया गया है। अधिकरण का यह दूसरा अवयव भी 'विशय' नाम से कहा जाता है। इस विशय शब्द का अर्थ संशय है। पहले विषय मे मूर्धन्य षकार है और दूसरे मे तालव्य शकार है इसका ध्यान रखना चाहिये। इस प्रकार विषय वाक्य और उसके सम्बन्ध मे सशय को दिखलाकर फिर पूर्वपक्ष और उसके बाद उत्तरपक्ष दिखलाते हैं। ये पूर्वपक्ष और

उत्तरपक्ष 'अधिकरण' के क्रमशः तृतीय व चतुर्थ अवयव है। इन चार के बाद इस सारे विवेचन का फल बताया जाता है। यह फल अधिकरण का पाँचवा अवयव है। इस प्रकार प्रत्येक अधिकरण पांच अवान्तर भागों मे विभक्त किया गया है। वैयासक न्यायमालाकार श्री भारतीतीर्थ मुनि ने इस पचावयवात्मक अधिकरण का लक्षण करते हुये लिखा है—

'विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
प्रयोजन च पचैतत् प्राज्ञोऽधिकरणं विदुः॥'

इस प्रकार वेदान्त सूत्रों की रचना मे चार अध्याय रक्खे गये हैं। प्रत्येक अध्याय चार पादों मे विभक्त किया गया है। प्रत्येक पाद का विभाजन अनेक अधिकरणों मे हुआ है और प्रत्येक अधिकरण की रचना एक या अनेक सूत्रों को मिलाकर। इस प्रकार वेदान्त सूत्रो के चारो अध्यायो मे अधिकरण आदि की जो सख्या बनती है उसे हम नीचे चित्र द्वारा दिखला रहे हैं।

वेदान्तदर्शन के सूत्रों तथा अधिकरणो की सख्या का प्रदर्शक चित्रः—

	प्रथम पाद		द्वितीय पाद		तृतीय पाद		चतुर्थ पाद		योग	
अध्याय संख्या	सूत्र सख्या	अधिकरण संख्या	सूत्र सख्या	अधिकरण संख्या	सूत्र संख्या	अधिकरण सख्या	सूत्र संख्या	अधिकरण संख्या	सूत्र संख्या	अधिकरण संख्या
१.	३१	११	३२	७	४३	१३	२८	८	१३४	३९
२.	३७	१३	४५	८	५३	१७	२२	९	१५७	४७
३.	२७	६	४१	७	६६	३६	५२	१७	१८६	६६
४.	१९	१३	२१	११	१५	६	२२	७	७७	३४
योग	११४	४३	१३९	३३	१७७	७२	१२४	४१	५५४	१८९

इस प्रकार वेदान्त दर्शन मे कुल ५५४ सूत्र है जिन्हे विषयानुसार क्रमश १८९ अधिकरणो, १६ पादो और चार अध्यायो मे विभक्त किया गया है। इस सुव्यवस्थित विभाजन के कारण ग्रन्थ की प्रतिपादनशैली बड़ी सुन्दर बन गई है।

ग्रन्थ का आरम्भ—

प्रकृत ग्रन्थ श्री आद्य शंकराचार्य महोदय ने उक्त वेदान्तसूत्र, ब्रह्मसूत्र, या शारीरक सूत्र कहलाने वाले वेदान्त-ग्रन्थ पर भाष्य के रूप मे लिखा है। उसका आरम्भ कुछ विचित्र ढग से हुआ है। सबसे पहली बात तो यह है कि श्री शंकराचार्य कट्टर आस्तिक हैं किन्तु आस्तिक परम्परा मे ग्रन्थारम्भ मे मगलाचरण करने की जो प्रथा प्रचलित है उसका पालन उन्होने नहीं किया है। उनके इस भाष्य के आरम्भ मे किसी प्रकार का मंगलाचरण नहीं पाया जाता है। यद्यपि मीमासा दर्शन के शाबर भाष्य और व्याकरण के पातञ्जल महाभाष्य के आरम्भ मे भी मगलाचरण नहीं पाया जाता है, किन्तु उन दोनो की स्थिति इससे भिन्न है। उन दोनों ग्रन्थो का प्रारम्भ 'अथातो धर्मजिज्ञासा' तथा 'अथ शब्दानुशासनम्' इन सूत्रो से होता है। सूत्रो के पहले और कोई पंक्ति नहीं लिखी गई है इसलिये सूत्र के आरम्भ मे प्रयुक्त 'अथ' शब्द को ही वहां मगलजनक मान लिया जाता है। सूत्रग्रन्थो मे प्रायः 'अथ' शब्द से ही मगल का काम निकाला जाता है (योगदर्शन के प्रारम्भ मे 'यस्त्यक्त्वा रूपमाद्यम्' इत्यादि श्लोक भाष्य के आरम्भ मे छपा हुआ पाया जाता है किन्तु वह श्लोक भाष्यकार की शैली से मेल नहीं खाता इसलिये बाद का बढाया हुआ प्रतीत होता है)। भाष्यग्रन्थ के आरम्भ मे वहां सूत्र का पाठ पहले होता है इसलिये वही अथ शब्द का प्रयोग सूत्रग्रन्थ और भाष्यग्रन्थ दोनो के लिये मगल का कार्य दे जाता है किन्तु यहां वैसी स्थिति नहीं है। ब्रह्मसूत्र के शांकर भाष्य का आरम्भ 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्र की व्याख्या से नहीं हुआ है; किन्तु उसके पूर्व लगभग तीन पृष्ठ का स्वतन्त्र भाष्यग्रन्थ है जिसे 'अध्यासभाष्य' के नाम से भी कहा जाता है और उसके बाद 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' सूत्र की व्याख्या प्रारम्भ होती है। ऐसी अवस्था मे साधारण आस्तिक परम्परा के अनुसार 'अध्यासभाष्य' के आरम्भ मे कोई मगलाचरण होना चाहिये था किन्तु वह मगलाचरण नहीं किया है। यह इस ग्रन्थ के आरम्भ की पहली विशेषता है।

ग्रन्थारम्भ की दूसरी विशेषता उसके वाक्यविन्यास से सम्बन्ध रखती है। अध्यासग्रन्थ का आरम्भ बड़ी जटिल शैली से हुआ है। उसके आरम्भ की दस-बारह पंक्तियां न केवल पाठको के लिये अपितु टीकाकारों के लिये भी लोहे के चने जैसी हो रही है।

टीकाकारों को उनकी व्याख्या करने के लिये बड़ी खींचतान करनी पड़ती है। श्री वाचस्पति मिश्र तक को ग्रन्थारम्भ की भाषा सन्तोषजनक प्रतीत नहीं

हुई बल्कि अपर्याप्त और अपूर्ण प्रतीत हुई है। ग्रन्थ के आरम्भ मे प्रयुक्त भाषा की व्याख्या करते हुये उन्होंने लिखा है कि—

'अत्र च युष्मदस्मदित्यादिर्मिथ्या भवितु युक्तमित्यन्तः शकाग्रन्थः। तथापीत्यादिः परिहारग्रन्थः। तथापीत्यभिसम्बन्धाच्छङ्कायां यद्यपीति पठितव्यम्। इदमस्मत्प्रत्ययगोचरयोरिति वक्तव्ये युष्मद्ग्रहणमत्यन्तभेदोपलक्षणार्थम्। यथा ह्यहकारप्रतियोगी त्वंकारो नैवमिदंकारः, एते वयमिमे वयमास्महे इति बहुल प्रयोगदर्शनादिति।'

उक्त पक्तिया हमने श्री वाचस्पति मिश्र की 'भामती' टीका से उद्धृत की हैं जो शाङ्कर भाष्य के ऊपर सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रामाणिक टीका मानी जाती है। इन पंक्तियो को देखने से ही स्पष्ट प्रतीत होता है कि वाचस्पति मिश्र को मूल भाष्यग्रन्थ को लगाने के लिये यहा बड़ा कठिन प्रयास करना पड़ रहा है। वैसे तो भाष्यकार सर्वत्र ही पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष को अलग-अलग दिखलाने मे काफी निपुण हैं पर यहा उनका लेख ग्रन्थ के आरम्भ मे ही इतना अस्पष्ट है कि टीकाकार को 'इति शङ्काग्रन्थः। इति परिहारग्रन्थ।' के रूप मे उसका विभाजन करना पड़ रहा है। वास्तव मे तो यह भी श्री वाचस्पति मिश्र की खींचातानी है। शङ्काग्रन्थ और परिहारग्रन्थ जैसी यहा कोई बात है नहीं। भाष्य के आरम्भ मे ग्रन्थकार अपने सिद्धान्त-सम्बन्धी मौलिक तथ्य को प्रस्तुत कर रहे हैं।

श्री वाचस्पति मिश्र के लेख के विरुद्ध जो हम इस सारे भाष्यग्रन्थ को शङ्काग्रन्थ और परिहारग्रन्थ के रूप मे न लेकर सिद्धान्तग्रन्थ के रूप में ले रहे है वह निराधार नहीं है। उसका आधार स्वय शाङ्कर भाष्य की अगली पक्तिया हैं। अध्यास के लक्षण और ख्यातिपंचक के निरूपण के पश्चात् भाष्यकार ने अपने सिद्धान्तपक्ष के ऊपर एक पूर्वपक्ष उठाकर उसका निराकरण किया है। उस पूर्वपक्ष मे उन्होने लिखा है—

'कथ पुनः प्रत्यगात्मन्यविषयेऽध्यासो विषयतद्धर्माणाम्? सर्वो हि पुरोवस्थिते विषये विषयान्तरमध्यस्यति, युष्मत्प्रत्ययापेतस्य च प्रत्यगात्मनोऽविषयत्व ब्रवीषि।'

भाष्यग्रन्थ की इन पक्तियों मे सिद्धान्तपक्ष के ऊपर शङ्का प्रस्तुत की गई है। उस शंका का आशय यह है कि युष्मत्प्रत्यय का विषय न होने से आप अर्थात् सिद्धान्तपक्ष, प्रत्यगात्मा (अर्थात् जीवात्मा) को अविषय मानते हैं तब उस अविषयभूत प्रत्यगात्मा मे विषय एवं उसके धर्मो का अध्यास नहीं बन सकता है। यह शंकाग्रन्थ का तात्पर्य है। इस शङ्काग्रन्थ से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोः' इत्यादि ग्रन्थ पूर्वपक्ष

से सम्बन्ध नहीं रखता है अपितु वह सिद्धान्त पक्ष को ही प्रस्तुत कर रहा है। वाचस्पति मिश्र ने उसे जो शकाग्रन्थ कह दिया है वह कुछ घबराहट मे आकर कह दिया है। इसीलिये उन्होने शकाग्रन्थ और परिहारग्रन्थ के रूप मे विभाजित करके लगाने का यत्न किया है। किन्तु उनका वह प्रयास उचित नहीं जॅच रहा। वस्तुतः यह पक्तिया शाङ्कर सिद्धान्त के मौलिक तथ्य को प्रस्तुत कर रही है।

उनके मत मे सारा ही लोकव्यवहार अध्यासमूलक है इसी बात को लेकर 'युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः' से 'नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः' तक की आठ-दस पक्तियो मे उन्होने अपने मूल सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया। किन्तु उनकी भाषा और वाक्यरचना ऐसी जटिल हो गई है कि वाचस्पति मिश्र जैसे विद्वानो को भी उसका समझना कठिन हो रहा है और उन्हे 'इति शङ्काग्रन्थः इति परिहारग्रन्थः' आदि खींचातानी करके उसके अर्थ की योजना करनी पड़ रही है। श्री वाचस्पति मिश्र की अगली पक्ति के 'तथापीत्यभिसम्बन्धाच्छङ्काया यद्यपीति पठितव्यम्' ये शब्द इस बात को द्योतित कर रहे है कि उनकी दृष्टि मे इस भाष्यग्रन्थ की भाषा एव वाक्यविन्यास शैली कठिन और अस्पष्ट होने के अतिरिक्त अपूर्ण भी है। उसके आरम्भ मे 'यद्यपि' शब्द का प्रयोग और होना चाहिये था जो नहीं किया गया है। यह भाष्यकार की वाक्यरचना-सम्बन्धी एक बड़ी त्रुटि है। भाष्य के आरम्भ मे ही यह 'प्रथमग्रासे मक्षिकापातः' नहीं होना चाहिये था। श्री वाचस्पतिमिश्र के भी अगली पंक्ति के 'इदमस्मत्प्रत्यय-गोचरयोरिति वक्तव्ये युष्मद्ग्रहणमत्यन्तभेदोपलक्षणार्थम्' ये शब्द तीसरी बार फिर उनकी कठिनाई को व्यक्त कर रहे है। उनके अनुसार भाष्यकार ने अपने भाष्य की प्रथम पक्ति मे 'विषयविषयिणोः' के विशेषण रूप मे 'युष्मदस्म-त्प्रत्ययगोचरयोः' इन शब्दो का प्रयोग किया है। वाक्य मे आये हुये 'विषय' शब्द का अर्थ शरीर, इन्द्रिय, घट, पटादि पदार्थ है, और 'विषयी' शब्द आत्मा का वाचक है। इन दोनो को भाष्यकार ने 'युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचर' अर्थात् त्वम् और अहम् प्रतीति का विषय कहा है। साधारणत 'विषयी' आत्मा को तो 'अस्मत्प्रत्ययगोचर' अह प्रतीति का विषय माना जाता है किन्तु यहा कहे हुये शरी-रादि विषयो को युष्मत्प्रत्ययगोचर अर्थात् त्वम्प्रतीति का विषय नहीं माना जाता है। उनके लिये युष्मत् या त्वम् शब्द का प्रयोग न होकर इदम् शब्द का प्रयोग होता है किन्तु भाष्यकार ने विषय शरीरादि को यहा 'युष्मत्प्रत्ययगोचर' अर्थात् त्वम्प्रतीति का विषय बतलाया है। इसका कारण श्री वाचस्पति मिश्र की दृष्टि में और भाष्यकार की दृष्टि मे भी विषय-विषयी का अत्यन्त भेद अथवा तम-

प्रकाशवत् विरुद्धस्वभावता दिखलाना है। पर यह व्याख्या भी तो बहुत सुसगत नहीं बैठती या यो कहे कि इस व्याख्या को मान लेने पर भी 'विषय' के लिये युष्मत् या त्वम् शब्द का प्रयोग उनके अपने सिद्धान्त के अनुसार ही उपयुक्त नहीं बैठता है क्योकि आगे चलकर भाष्यकार ने जहा तृतीय अध्याय मे 'तत्त्वमसि' वाक्य का विचार करते हुये 'तत्' पद और 'त्वम्' पद के अर्थों का विवेचन किया है वहां 'तत्पद' का अर्थ 'परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य' अर्थात् ब्रह्म 'या ईश्वर' और 'त्वम्' पद का अर्थ 'अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य' अर्थात् जीवात्मा किया है अर्थात् उसमे विषयी आत्मा को त्वम्पदग्राह्य (युष्मत्प्रत्ययगोचर) माना है और यहा उसी विषयी आत्मा की युष्मत्प्रत्ययगोचरता (त्वम्पदग्राह्यता) का निषेध कर रहे हैं। यह परस्पर-विरोधपूर्ण लेख युक्तिसगत प्रतीत नहीं होते। श्री वाचस्पति मिश्र ने उसके उद्धार का जो यत्न किया है वह भी सफल नहीं हो सका है। उन्होने लिखा है—

'इदमस्मत्प्रत्ययगोचरयोरिति वक्तव्ये युष्मद्ग्रहणमत्यन्तभेदोपलक्षणार्थम्। यथा ह्यहकारप्रतियोगी त्वंकारो नैवमिदंकार एते वयमिमे वयमास्मह इति बहुल प्रयोगदर्शनादिति।'

अर्थात् 'एते वयमास्महे, इमे वयमास्महे' इत्यादि प्रयोगो मे इदम्, एतत् आदि सर्वनाम पदो का अस्मत्पद (वयम्) के साथ प्रयोग देखा जाता है, इसलिये उनमे परस्पर विरोध नहीं है किन्तु त्वम् और अहम् का एक साथ समानाधिकरण मे प्रयोग नहीं देखा जाता इसलिये उनमे परस्पर विरोध है। युष्मत् और अस्मत् पदो की तमःप्रकाशवत् विरुद्धस्वभावता को लेकर ही भाष्यकार ने 'इदमस्मत्प्रत्ययगोचरयो.' के बजाय 'युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयो विषयविषयिणो' लिखा है। श्री वाचस्पति मिश्र ने भाष्यकार के त्रुटिपूर्ण लेख के उद्धार के लिये इस मार्ग का अवलम्बन किया है किन्तु इसमे भी दो दोष है। 'एते वयमास्महे, इमे वयमास्महे' अथवा 'अयमहमागच्छामि अयमहमागतः' आदि प्रयोगो मे जो इदम् और एतत् आदि पदों का प्रयोग किया गया है वह लक्षणा द्वारा सामीप्यातिशय का बोधक है। 'इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्त्ति चैतदो रूपम्' के अनुसार इदम् पद सन्निकृष्ट अर्थ का और एतत् पद समीपतरवर्ती अर्थ का बोधक होता है। यह सामीप्य दो तरह का हो सकता है—एक दैशिक सामीप्य और दूसरा कालिक सामीप्य। 'एते वयमास्महे इमे वयमास्महे' ये दोनो प्रयोग प्रकरणानुसार कहीं दैशिक सामीप्य के अतिशय को और कहीं कालिक सामीप्यातिशय को बोधन करते हैं। उनके समानाधिकरण मे विरोधाविरोध जैसी कोई बात नहीं है। उधर हम यह भी देख चुके हैं कि अस्मत्प्रत्ययगोचरता तो विषयी आत्मा में रहती ही है किन्तु तत्त्व-

मसि आदि वाक्यो के अर्थविचार से यह भी स्पष्ट है कि विषयी आत्मा मे त्वम्-पदग्राह्यता (युष्मत्प्रत्ययगोचरता) भी रहती है इसलिये 'युष्मत्प्रत्ययगोचरता' और 'अस्मत्प्रत्ययगोचरता' दोनों ही आत्मा मे घट जाने से उनमें तमःप्रकाशवत् विरुद्धस्वभावता नहीं बनती है । इसी प्रकार विषय विषयी मे भी तमः-प्रकाशवत् विरुद्धस्वभावता नहीं बनती है क्योंकि तम और प्रकाश मे 'सहानव-स्थान' विरोध है अर्थात् प्रकाश और अन्धकार दोनों एक साथ नहीं रह सकते हैं 'सामानाधिकरण्य हि तेजस्तिमिरयोः कुतः' । तेज और तिमिर, प्रकाश और अन्धकार दोनों मे 'सहानवस्थानलक्षण विरोध' होने से उनका सामानाधिकरण्य अर्थात् एक साथ स्थिति असम्भव है । भाष्यकार के लेख से यह प्रतीत होता है कि वे विषय और विषयी अर्थात् घटादि (विषय) और ज्ञान (विषयी) अथवा शरीरादि (विषय) और आत्मा (विषयी) का इसी प्रकार का 'सहानवस्थान विरोध' मानते है किन्तु वह युक्तिसगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि विषय और विषयी दोनो शब्दो का प्रयोग तभी बनता है जब कि उन दोनो की सहस्थिति मानी जाय । 'विसिन्वन्ति अनुबध्नन्ति स्वेन रूपेण निरूपणीयं कुर्वन्ति विषयिणम् यानम् इति विषया ' यह विषय शब्द की व्युत्पत्ति की गई है । इसके अनुसार घटादि विषय अपने स्वरूप द्वारा ज्ञान को घटज्ञान पटज्ञान आदि रूप मे सीमित करते हैं इसलिये उनको 'विषय' कहा जाता है और 'विषया अस्य सन्ति इति विषयी' विषय जिससे सम्बन्ध रखने वाले हैं वह ज्ञान 'विषयी' कहलाता है अर्थात् ज्ञान और घटादि की सहस्थिति द्वारा परस्पर सम्बन्ध होने पर ही घटादि के लिये 'विषय' शब्द का प्रयोग और ज्ञान के लिये 'विषयी' शब्द का प्रयोग बनता है । इसलिये उन दोनो मे तमःप्रकाश के समान विरुद्धस्वभावता अर्थात् सहानवस्थान विरोध नहीं है । इसी प्रकार शरीर और आत्मा मे भी सहानव-स्थान विरोध नहीं है । आत्मा शरीर मे रहता है और शारीर शब्द से कहा जाता है इसलिये जब शरीरादि के लिये विषय पद का और आत्मा के लिये 'विषयी' शब्द का प्रयोग किया जाता है तब उनमे भी सहानवस्थान विरोध अर्थात् तमः-प्रकाशवत् विरुद्धस्वभावता नहीं बनती है । इस प्रकार श्री वाचस्पति मिश्र ने भाष्यकार के ग्रन्थ की 'युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयो विषयविषयिणो तम प्रकाशवत् विरुद्धस्वभावयो ' इस पहली पंक्ति की दोषपूर्ण और असंगत रचना के उद्धार के लिये अत्यन्त खींचातानी करके जो कठिन प्रयास किया है वह सब छिन्न-भिन्न और व्यर्थ हो जाता है क्योंकि इस छोटी सी एक पंक्ति मे 'पदसख्यातोऽपि भूयसी दोषाणां सख्या विद्यते'—जितने पद हैं उससे भी अधिक संख्या में दोष है उसके उद्धार का प्रयत्न कैसे सफल हो सकता है । टीकाकार बेचारे व्यर्थ परेशान

हो रहे है। वे अपने भाष्यकार के उद्धार का जितना प्रयत्न करते है उतने ही स्वय उस मायाजाल मे फँसते जा रहे हैं। न स्वय निकल पाते है और न भाष्यकार को निकाल पाते हैं—'पङ्के गौरिव सीदति'।

यह तो भाष्यकार की पहली पक्ति की चर्चा हुई। अब जरा उनके वाक्य-विन्यास को लीजिये। श्री वाचस्पति मिश्र ने भाष्यकार के 'युष्मदस्मत्प्रत्यय-गोचरयोः' से लेकर 'नैसर्गिकोऽय लोकव्यवहार' तक की आठ-दस पक्तियो के प्रारम्भिक लेख को दो भागो मे विभक्त किया है जैसा कि उन्होने ऊपर लिखा है—'अत्र च युष्मदस्मदित्यादिर्मिथ्याभवितु युक्तमित्यन्त शङ्काग्रन्थ। तथापीत्यादि परिहारग्रन्थः।' इन पक्तियों मे आधा भाग शकाग्रन्थ और आधा भाग परिहार-ग्रन्थ के रूप मे है। किन्तु भाष्यकार की वाक्यविन्यास-शैली को वे यहाँ त्रुटि-पूर्ण मानते है जैसा कि उन्होंने लिखा है—'तथापीत्यभिसम्बन्धाच्छङ्काया यद्यपीति पठितव्यम्' अर्थात् शकाग्रन्थ के आरम्भ मे 'यद्यपि' पद का पाठ और होना चाहिये था, उसके बिना शङ्काग्रन्थ वाला वाक्य अपूर्ण अर्थात् दोषग्रस्त हो जाता है इसलिये वाचस्पति मिश्र की दृष्टि मे भाष्यकार की यह वाक्यरचना भी दोषपूर्ण है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाष्यकार के ग्रन्थ का आरम्भ ही त्रुटिपूर्ण ढंग से हुआ है। 'बिस्मिल्लाह ही गलत हो गई है।' उसमे पददोष भी है, पदार्थ-दोष भी है, वाक्यदोष और वाक्यार्थदोष भी है। वे यह कह रहे हैं कि विषय और विषयी अर्थात् शरीर या आत्मा का परस्पर अध्यास अथवा एक दूसरे के धर्मों का एक दूसरे पर आरोप नहीं बन सकता, दूसरी ओर यह कह रहे हैं कि यह सारा लोक-व्यवहार उसी अध्यास या आरोप के ऊपर चल रहा है। इस सारे लोक-व्यवहार को अध्यासमूलक सिद्ध करने के लिये उन्होंने 'सत्यानृते मिथुनी-कृत्य 'अहमिद' 'ममेदमिति' नैसर्गिकोऽय लोकव्यवहार' यह पक्ति लिखी है। इस पक्ति मे भाष्यकार का अभिप्राय यह है कि 'अहमिद' इस लोक-व्यवहार में इदम् अर्थात् विषय के ऊपर 'अहम्' अर्थात् विषयी का अध्यारोप करके 'अह-मिदम्' यह अध्यासमूलक लोक-व्यवहार होता है और ममेदम् मे इदम् के धर्मो पर अहम् के धर्मों का अध्यारोप करके ममेदम् यह अध्यासमूलक लोक-व्यवहार होता है किन्तु वास्तव मे देखा जाय तो इन दोनो मे से कोई भी लोक-व्यवहार अध्यासमूलक नहीं है, किसी मे भी किसी प्रकार का अध्यारोप नहीं किया जाता है क्योंकि 'अहमिदम्' यह लोक-व्यवहार तो होता ही नहीं है, यदि कभी कोई ऐसा प्रयोग होता भी है तो वह लाक्षणिक प्रयोग होता है। हम अभी ऊपर दिखला चुके है कि 'अयमहमागच्छामि अयमहमागत एते वयमास्महे, इमे

वयमास्महे' इत्यादि प्रयोग लाक्षणिक प्रयोग हैं। वे कालिक अथवा दैशिक सामीप्यातिशय को बोधन करने के लिये किये जाते हैं अन्यथा 'इदमहम्' के रूप मे अध्यारोपमूलक कोई प्रयोग नहीं होता है। भाष्यकार व्यर्थ ही इस प्रकार के प्रयोग की कल्पना कर रहे है। 'ममेदम्' यह जो दूसरा प्रयोग उन्होने अध्यारोप-मूलक प्रयोग के रूप मे दिखलाया है वह भी सगत नहीं है। मम यह षष्ठी विभक्ति का प्रयोग ही वहां इदम् और अस्मत् शब्द के बीच रहने वाले और अनुभूयमान भेद को सूचित कर रहा है। क्योकि षष्ठी विभक्ति सम्बन्धार्थक विभक्ति है। सम्बन्ध का बोधन करने के लिये षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है और सम्बन्ध दो भिन्न पदार्थों मे ही होता है अर्थात् दो पदार्थों के बीच भेदज्ञान और उनके सम्बन्ध का ज्ञान होने पर ही षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है। ऐसे स्थल पर 'अन्योन्यात्मकता' अर्थात् अध्यारोप की कोई गुंजाइश नहीं रहती है इसलिये भाष्यकार ने सारे लोक-व्यवहार को अध्यासमूलक सिद्ध करने के लिये जो दो उदाहरण दिये है वे दोनों उदाहरण असगत हैं। इस प्रकार भाष्यकार का ग्रन्थारम्भ अत्यन्त त्रुटिपूर्ण ढंग से हुआ है। ऐसा जान पड़ता है कि वे इस विषय को स्वय समझते हुये भी दूसरो को नहीं समझा पा रहे है। साधारण पुरुष नहीं, वाचस्पति मिश्र जैसे उनके भक्त टीकाकार भी उनके ग्रन्थ को समझने मे समर्थ नहीं हो रहे है। उन्हे भी पदयोजना, पदार्थयोजना, वाक्य और वाक्यार्थयोजना सभी जगह खींचातानी करके काम निकालना पड़ रहा है। विद्वान् लेखक और वक्ता से आशा तो यही की जाती है कि वह कठिन से कठिन और गूढ़ से गूढ़ विषय को इस ढग से प्रगट करे कि वह हर व्यक्ति की समझ मे आ जाय या कम से कम उसके अधिकारी व्यक्तियों के सामने सारा विषय हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जाय।

'समझ मे साफ आ जाये फसाहत इसको कहते है।
असर हो सुनने वालो पर बलागत इसको कहते है।'

पर भाष्यकार की पक्तियो मे यहाँ वैसी स्पष्टता का लेश मात्र भी नहीं है। जब वक्ता या लेखक विषय को ठीक तरह से नहीं समझता है तभी उसके लेख और कथन मे अस्पष्टता आ जाती है। यहाँ भाष्यकार का लेख अत्यन्त अस्पष्ट है इसलिये जान पड़ता है कि वे अध्यासवाद के इस सिद्धान्त को स्वयं ही ठीक तरह से नहीं समझ पा रहे हैं इसीलिये वाचस्पति मिश्र जैसे भक्त टीकाकार को भी समझाने में असमर्थ हो रहे हैं। अपने भाष्य के आरम्भ मे उन्होंने शब्दा-डम्बर का घटाटोप खड़ा करके साधारण विद्वानों और पण्डितों को भय से अभि-भूत तो कर लिया है किन्तु वाचस्पति मिश्र जैसे विवेचकों के हृदय को ये नहीं

समन्वयाध्यायः प्रथमः ॥ १ ॥

उपोद्घातः

युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोस्तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोरितरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिरित्यतोऽस्मत्प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां चाध्यासः, तद्विपर्ययेण विषयिणस्तद्धर्माणां च विषयेऽध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तम् ।

तथाप्यन्योन्यस्मिन्नन्योन्यात्मकतामन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्येतरेतराविवेकेन, अत्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननि-

---

छू पा रहे है। फिर भी 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' के सिद्धान्त के अनुसार श्री वाचस्पति मिश्र ने, भाष्यकार का ग्रन्थ जिस रूप मे भी उपस्थित है उसकी सगति लगाने का सराहनीय यत्न किया है। श्री मिश्र जी की शैली के आधार पर ही हम भाष्यकार की इन प्रारम्भिक पक्तियों का अर्थ नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं—

त्वम्प्रतीति से ग्राह्य (वस्तुत इदम्प्रतीति से ग्राह्य; घटादि तथा शरीरादि रूप) 'विषय' तथा अहम्प्रतीति से ग्राह्य (आत्मा या ज्ञान) 'विषयी' के प्रकाश और अन्धकार के समान परस्पर विरुद्धस्वभाव (सहावस्थान के अयोग्य) होने के कारण अन्योन्यरूपता (अर्थात् विषय की विषयी रूप मे अथवा विषयी की विषय रूप मे प्रतीति) युक्तिसगत न होने मे उन दोनों के धर्मों की अन्योन्यरूपता नहीं बनती है। इसलिये अहम्प्रतीति से ग्राह्य चैतन्य स्वरूप आत्मा मे त्वम्प्रतीति से (वस्तुतः इदम्प्रतीति से) ग्राह्य (शरीरादिरूप) विषय का और उनके धर्मों का परस्पर आरोप (अध्यास) तथा उसके विपरीत विषयी (आत्मा) और उसके धर्मों का विषय (शरीरादि) और उसके धर्मों का (अध्यास) आरोपण मिथ्या ही समझना चाहिये। फिर भी एक दूसरे मे अन्योन्यरूपता (अर्थात् विषय देहादि को विषयी, अहम्प्रतीति से ग्राह्य आत्मस्वरूप तथा विषयी आत्मा को इदम्प्रतीति से ग्राह्य अहं गौर, अहं कृशः इत्यादि प्रतीति मे विषयरूपता) तथा उन दोनों के धर्मों का एक दूसरे मे आरोपण करके (विषय तथा विषयी) दोनो के (तमःप्रकाशवत्) अत्यन्त भिन्न होने पर भी

मित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य, अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः ।

एक दूसरे के भेद को न जानने के कारण सत्य (चैतन्यस्वरूप आत्मा) तथा अनृत अनित्य शरीरादि दोनो को मिलाकर (मिथुनीकृत्य) अहमिदम् (मैं शरीर रूप गौर, कृश आदि) और ममेदम् (ये शरीरादि मेरे हैं) इस प्रकार का मिथ्याज्ञाननिमित्तक लोकव्यवहार (नैसर्गिकः अस्ति) अर्थात् अनादि परम्परा से चला आ रहा है (अर्थात् सारा लोकव्यवहार मिथ्याज्ञाननिमित्तक और आरोपमूलक है) ।

अध्यास का लक्षण—

ऊपर के भाष्य ग्रन्थ मे भाष्यकार ने अपने सिद्धान्त के मौलिक तत्व को एक तथ्य के रूप मे प्रस्तुत किया है और वह तथ्य यह है कि सारा लौकिक व्यवहार तथा वैदिक व्यवहार भी मिथ्याज्ञाननिमित्तक और अध्यास के ऊपर आश्रित है । अगली पंक्ति मे वे (अध्यास का लक्षण करने के लिये)—'कोऽयमध्यासो नाम' इस प्रकार का प्रश्न उठाकर 'स्मृतिरूप. परत्र पूर्वदृष्टावभास. अध्यासः' इस प्रकार उत्तर देते हुये अध्यास का लक्षण प्रस्तुत करते हैं । इस लक्षण में अवभास' शब्द का अर्थ 'अवमतः अवसन्नो वा भासः अवभास ' यह होता है । इसका अभिप्राय है बाधित होने वाली प्रतीति जैसे रज्जु मे सर्प की प्रतीति जो बाद में उत्पन्न होने वाली 'रज्जुरिय' 'नायं सर्पः' इस प्रतीति से बाधित हो जाती है इसलिये यह 'भास' आभास अर्थात् प्रतीति अवसन्न या अवमत होने से 'अव' भाग कहलाती है । परत्र अर्थात् आरोप अधिष्ठान आत्मा मे पूर्वदृष्ट अनृत शरीरादि या शरीरादि मे आत्मा की प्रतीति बाधित होने से अवभास कहलाती है, इसी को भाष्यकार ने 'परत्र पूर्वदृष्टावभासः अध्यासः' इन शब्दों मे व्यक्त किया है । इसका एक विशेषण 'स्मृतिरूप.' और रह जाता है । उसका अर्थ है 'स्मृतेः रूपमिव रूपं यस्य स स्मृतिरूपः'—वह 'अध्यास' या 'अवभास' स्मृतिरूप होता है । स्मृतिरूप से अभिप्राय असन्निहितविषयत्व है । वैसे स्मृति का लक्षण 'संस्कारजन्य ज्ञानं स्मृतिः' यह किया गया है । किसी वस्तु को देखकर हमारे मन पर एक प्रकार का संस्कार बनता है । कालान्तर मे उसी संस्कार का उद्बोधन होने से हमे पदार्थ की स्मृति होती है इसलिये 'सस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृति.' यह स्मृति का लक्षण किया गया है किन्तु स्मृति के अतिरिक्त संस्कार से जन्य एक और भी ज्ञान है जिसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं । 'सोऽयं देवदत्तः य काश्या दृष्ट आसीत्'—यह वही देवदत्त है जिसे काशी मे देखा था । यह प्रतीति

आह कोऽयमध्यासो नामेति। उच्यते—स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः। तं केचिदन्यत्रान्यधर्माध्यास इति वदन्ति। केचित्तु यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रम इति।

'प्रत्यभिज्ञा' का उदाहरण है। इसकी उत्पत्ति में भी संस्कार कारण होता है। किन्तु इसमे और स्मृति मे थोड़ा-सा भेद है। स्मृति मे जिस पदार्थ का स्मरण होता है वह स्मरण के समय सामने उपस्थित नहीं होता अर्थात् स्मृति सदैव असन्निहितविषयक होती है। इसके विपरीत प्रत्यभिज्ञा में जिसका ज्ञान हो रहा है उसमे 'सह' पद से पूर्वदेश पूर्वकाल के सम्बन्ध का ज्ञान होता है और 'अयम्' पद से,सामने उपस्थित देवदत्त का ज्ञान होता है अर्थात् 'सोऽय देवदत्त' इस प्रतीति मे 'सह' पद 'तत्ता' अर्थात् पूर्वदेश पूर्वकाल सम्बन्ध का और 'अयम्' पद 'इदन्ता' अर्थात् एतद्देश एतत्काल सम्बन्ध का ग्राहक है इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान मे तत्ता और इदन्ता दोनो की प्रतीति होने से तत्तेदन्तावगाहिनी-'प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा' यह प्रत्यभिज्ञा का लक्षण किया गया है। प्रत्यभिज्ञा मे स्मर्यमाण विषय सन्निहित होता है और स्मृति मे स्मर्यमाण विषय असन्निहित होता है यही स्मृति और प्रत्यभिज्ञा का भेद है। प्रत्यभिज्ञा यथा प्रमारूप यथार्थज्ञानरूप मानी जाती है जो अनुभवात्मक है और स्मृति उससे भिन्न ज्ञान को कहते हैं,जो प्रमा के क्षेत्र मे नहीं आती है। अध्यास भी प्रमा के अन्तर्गत नहीं है इसलिये उसे 'स्मृतिरूप' कहा है। 'स्मृतिरूप' का अर्थ हुआ असन्निहित विषयक। प्रत्यभिज्ञारूप यथार्थज्ञान से अध्यास को भिन्न करने के लिये अथवा प्रत्यभिज्ञा मे अध्यास लक्षण की अतिव्याप्ति के वारण के लिये भाष्यकार ने यहां अध्यास के लक्षण मे 'स्मृतिरूप.' पद का समावेश किया है। अतः अध्यास का लक्षण निम्न प्रकार बनता है—

पूर्वदृष्ट (रजत आदि रूप अर्थ) का (परत्र अर्थात्) दूसरी जगह अर्थात् (शुक्तिकादि मे, स्मृतिरूप.) स्मृति के सदृश (अर्थात् जिस प्रकार स्मृति में स्मर्यमाण विषय असन्निहित होता है इसी प्रकार अध्यास भी) असन्निहित विषयक तथा बाधित होने वाली प्रतीति [अवमतोऽभासः अवभास] 'अध्यास' कहलाती है।

कुछ [आत्मख्यातिवादी या असत्ख्यातिवादी बौद्ध लोग] उस [अध्यास] को ही अन्य के धर्म [अर्थात् विज्ञान के धर्मभूत् रजत तत्त्वादि] की अन्यत्र [अर्थात् बाह्यरूप मे] प्रतीति को [अध्यास या भ्रम] कहते हैं।

दूसरे [अर्थात् अख्यातिवादी प्रभाकर के अनुयायी मीमांसक] तो जहां

अन्ये तु यत्र यदध्यासस्तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनामाचक्षते इति । सर्वथापि त्वन्यस्यान्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति । तथा च लोकेऽनुभवः—शुक्तिका हि रजतवदवभासते, एकश्चन्द्रः सद्वितीयवदिति ।

[शुक्तिकादि मे] जिसका [रजत आदि का] अध्यास [भ्रान्त प्रतीति या भ्रम] होता है उन दोनों अर्थात् 'इदम्' रूप मे अनुभूयमान शुक्तिकादि तथा 'रजतम्' इस रूप मे स्मर्यमाण रजत दोनो के भेद का ग्रहण न होने के कारण अर्थात् इदम् पश्यामि रजतम् स्मरामि इस प्रकार का दो ज्ञानो का अलग-अलग ग्रहण न होने के कारण उत्पन्न भ्रम बतलाते हैं।

अन्य लोग [अर्थात् अन्यथाख्यातिवादी नैयायिक] जहाँ [शुक्तिकादि-मे] जिसका [अर्थात् रजतादि का,] अध्यास [अर्थात् भ्रम] होता है उसी [शुक्तिकादि] मे विपरीत धर्म [अर्थात् रजत के धर्म रजतत्त्व] की कल्पना [अर्थात् प्रतीति] को [अध्यास या भ्रम] कहते है।

सभी मतो मे अन्य [शुक्तिकादि मे] अन्य [रजतादि] के धर्म की प्रतीति [अवश्य मानी जाती है उस अन्य मे अन्य के धर्म की] का व्यभिचार [अर्थात् अभाव] नहीं होता है। जैसा कि लोक में "शुक्ति रजत के समान प्रतीत होती है" और "एक चन्द्र दो सा प्रतीत होता है।" यह अनुभव होता है।

यहाँ भाष्यकार ने शुक्तिका हि रजतवदवभासेत और एकश्चन्द्र. स द्वियीयवत् इन दोनों को अध्यास के उदाहरण रूप मे प्रस्तुत किया है। परन्तु वह ठीक प्रतीत नहीं होता। इन दोनो उदाहरणो मे 'वत्' यह, वति प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। जो सादृश्य का सूचक है। और सादृश्य नाम है 'भूयोऽवयव सामान्य योगो हि जात्यन्तरे जात्यन्तर वर्त्ति सादृश्यम्।'

अर्थात् एक जातीय पदार्थ का दूसरे विजातीय पदार्थ के साथ जो अनेक अवयवों की समानता है उसको सादृश्य कहते है। यहाँ शुक्तिका और राजत दो विजातीय पदार्थ का उनमे चाकचिक्य चमकदमक रूप सादृश्य है। इसी सादृश्य को इन दो उदाहरणो मे इवार्थक वति प्रत्यय और तुल्यार्थक वति प्रत्यय के द्वारा बोधन किया गया है। अष्टाध्यायी मे वति प्रत्यय के विधायक दो सूत्र आये हैं। १ "तत्र तस्येव" (५.१,११५) और २ "तेन तुल्य क्रिया चेद्वति" (५.१.११६) इनमें से "तत्र तस्येव" यह सूत्र इवार्थ मे वति प्रत्यय का विधान करता है और उसके होने पर षष्ठी विभक्ति के समान

तुरन्त सादृश्य की प्रतीति हो जाती है। इसलिये "श्रौती उपमा" मानी जाती है। दूसरे सूत्र 'तेन' तुल्यं क्रिया चेद्वति" से जब वति प्रत्यय होता है तो उपमानता की प्रतीति उतनी सुकर नहीं होती। उसके लिये कुछ विचार करना पड़ता है। अत. तुल्यार्थक वति प्रत्यय के योग मे "श्रौती" नहीं अपितु "आर्थी" उपमा मानी जाती है। काव्यप्रकाशकारने इन दोनो वति प्रत्ययों के बीच के इस भेद का निरूपण करते हुये लिखा है—

"यथा—इवादिशब्दा-यत्यपरास्तस्यैवोपमानताप्रतीतिरिति यद्यप्युपमान-विशेषणान्येते तथापि शब्दशक्तिमहिम्ना श्रुत्यैव षष्ठीवत् सम्बन्धं प्रतिपादयन्तीति सद्भावे श्रौती उपमा। तथैव "तत्र तस्येव' इत्यनेन इवार्थे विहितस्य वतेरुपादाने।

"तेन तुल्य मुखमित्यत्र" इत्यादावुपमेये एव तत्तुल्यमस्य इत्यादौ चोपमाने एवं इद च तच्चतुल्यम् इत्युभयत्रापि तुल्यादिशब्दानां विश्रान्तिरिति साम्य पर्या-लोचनया तुल्यताप्रतीतिरिति साधर्म्यस्यार्थत्वात् तुल्यादि शब्दोपादेन आर्थी वत् "तेन तुल्य क्रिया चेद्वति" इत्यनेन विहितस्य वतेः स्थितौ।'—भाष्यकार द्वारा प्रस्तुत दोनो उदाहरण उक्त लक्षणो के अनुसार उपमा के हैं। उपमा मे उपमान और उपमेय की भेद प्रतीति रहती है। जैसा कि उपमा के लक्षण मे काव्यप्रकाशकार ने लिखा है—"साधर्म्यमुपमा भेदे" अर्थात् उपमा के लिये उपमान उपमेय का भेदक ग्रह आवश्यक है। इसके विपरीत अध्यास स्थल में भेदक ग्रह का होना नितान्त बाधक है। यदि आरोप्यमाण (रजत) और आरोप्य विषय (शुक्ति) दोनों का भेद ग्रहीत होता है तब अध्यास नहीं बन सकता है। भाष्यकार द्वारा प्रस्तुत दोनो उदाहरणो मे भेद ग्रह स्पष्ट है जैसा कि लोक मे "शुक्तिका रजत के समान प्रतीत होती है" और "एक चन्द्रमा दो सा प्रतीत होता है।" यह अनुभव होता है। [अर्थात् भ्रम या अध्यास को किसी न किसी रूप मे सभी लोग मानते हैं और सभी मतो मे अतत् शुक्तिवादी मे तत् अर्थात् रजतादि की प्रतीति मानी जाती है। भाष्यकार ने भी अध्यास का यही लक्षण किया है]

ख्यातिपंचक—

उपर्युक्त भाष्य ग्रन्थ मे भाष्यकार ने 'अध्यास' का लक्षण किया है और साथ ही यह भी दिखाया है कि अन्य दार्शनिक लोग भी इस अध्यास को स्वीकार करते हैं और इसी से मिलता-जुलता अध्यास का लक्षण करते हैं। इसी अध्यास को साधारण भाषा मे भ्रम या मिथ्याज्ञान कहा जाता है पर भाष्यकार ने उन अत्यन्त प्रचलित और सुबोध भ्रम या मिथ्याज्ञान शब्दों के स्थान पर एक सर्वथा

अपरिचित और नये 'अध्यास' शब्द का प्रयोग किया है उसका समझना तनिक कठिन हो जाता है इसलिये भाष्यकार को उसको स्पष्ट करके समझाने के लिये विशेष प्रयत्न करना पड़ा है। विषय का विवेचन करते हुये यहाँ भाष्यकार ने अन्य अनेक मतो का उल्लेख किया है। इन सब मतो मे भ्रमस्थल मे किस पदार्थ की प्रतीति होती है इस पर प्रकाश डाला गया है। इस विषय मे प्रायः पाच प्रकार के मत पाये जाते है जिनको 'ख्यातिपचक' या 'पचख्याति' के नाम से कहते है। यहाँ 'ख्याति' शब्द का अर्थ ज्ञान है। भ्रमस्थल मे किसकी प्रतीति होती है इसका विवेचन सभी दार्शनिको ने अपने-अपने ढग से किया है। सबमे पहले बौद्धमत को लीजिये। बौद्ध दार्शनिको के चार सम्प्रदाय है। सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार तथा माध्यमिक। इनमे से सौत्रान्तिक और वैभाषिक दोनो बाह्य पदार्थों का अस्तित्व मानते हैं। माध्यमिक और योगाचार दोनो बाह्य पदार्थों का अस्तित्व नहीं मानते है। इनमे से एक अर्थात् योगाचार विज्ञानवादी है और दूसरा माध्यमिक शून्यवादी है। विज्ञानवादी बौद्ध के मत मे एक विज्ञान मात्र को छोड़कर घटपटादि रूप किसी भी पदार्थ का कोई अस्तित्व नहीं है। व्यवहारदशा मे विज्ञान ही स्वय नानारूपो मे भासता है जैसे स्वप्न मे किसी बाह्य पदार्थ का कोई अस्तित्व नहीं होता है किन्तु ज्ञान ही नानारूपो मे प्रकट होकर सारे जगत् व्यवहार का प्रदर्शन करा देता है, इसी प्रकार जागृतकाल मे भी घटपदादि पदार्थों का वस्तुतः कोई अस्तित्व नहीं है। स्वप्नदृष्ट पदार्थो के समान विज्ञान ही उन-उन नानारूपो मे प्रतीत होकर लोक व्यवहार का उपपादन करता है। यह विज्ञानवादी बौद्ध का मत है। शून्यवादी माध्यमिक बौद्ध के मत मे न घटादि रूप बाह्य पदार्थों का अस्तित्व है और न विज्ञान का 'शून्य तत्त्व' शून्य ही एकमात्र तत्त्व है। जैसे विज्ञानवादी मत मे केवल विज्ञान ही जागृत और स्वप्न दोनो दशाओ मे नानारूपो मे भासकर लोक व्यवहार का प्रवर्त्तन करता है इसी प्रकार शून्यवादी बौद्ध के मत मे शून्य तत्त्व ही सारे लोक व्यवहार का उपपादन करता है। इसलिये विज्ञानवादी बौद्ध [योगाचार] के मत मे भ्रमस्थल मे स्वयं विज्ञान ही की विषय रूप मे प्रतीति होती है। ख्यातिपचक वाले सिद्धान्त मे विज्ञानवादी बौद्ध के इस मत को "आत्मख्याति" के नाम से कहा जाता है "आत्मख्याति" मे प्रयुक्त "आत्म" शब्द जीवात्मा या परमात्मा जैसे किसी अर्थ का वाचक नहीं है अपि तु उसका अर्थ वहाँ 'स्वय' या 'विज्ञान' होता है। विज्ञानवादी मत मे स्वय विज्ञान ही नानारूपो मे भासता है इसी अर्थ को बोधन करने के लिये 'आत्म' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसलिये विज्ञानवादी बौद्ध के मत को आत्मख्याति नाम से कहा गया है।

'ख्यातिपंचक' मे दूसरा मत 'असत्ख्याति' नाम से कहा जाता है। यह शून्यवादी बौद्ध का मत है। 'असत्' का अर्थ है शून्य। सारे लोकव्यवहार मे शून्य ही नानारूप मे भासता है न घटादि पदार्थों का अस्तित्व है और न विज्ञान का। इसीलिए शून्यवादी बौद्ध के मत को यहाँ 'असत्ख्याति' के नाम से कहा गया है। ऊपर अध्यास के लक्षण मे अध्यास का जो दूसरा लक्षण 'तम् केचित् अन्यत्र अन्य धर्माध्यास–इति वदन्ति' यह लक्षण किया है उसमे बौद्धो के आत्मख्याति तथा असत्ख्याति दोनो मतो का समावेश हो जाता है।

ख्यातिपचक मे तीसरा सिद्धान्त 'अख्यातिवाद' नाम से कहा जाता है। यह मीमासको के एक प्रमुख सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक प्रभाकर का है। प्रभाकर का सिद्धान्त यह है कि ससार मे भ्रम का कहीं कोई अतित्त्व नहीं है। शुक्तिका मे जब रजत की प्रतीति होती है तब उसको भ्रम कहा जाता है "तद्भाववति तत्प्रकारक ज्ञानं भ्रम" यह भ्रम का लक्षण है। इसका अभिप्राय यह है कि तद्भाववति अर्थात् 'रजतत्वादिभाववति शुक्तिकादौ' जहाँ रजतत्व नहीं रहता है वहाँ तत्प्रकारक अर्थात् रजतत्वविशिष्ट प्रतीति को भ्रम कहते हैं। शुक्तिका मे जब रजत की प्रतीति होती है तब इद रजतम् यह 'तद्भाववति तत्प्रकारकं ज्ञान' होने से भ्रम कहलाता है। पर प्रभाकर का कहना है कि यह भ्रम ज्ञान नहीं है। प्रभाकर इस 'इदं रजतम्' ज्ञान को दो भागो मे विभक्त करता है। उसका एक अश है 'इदम्' और दूसरा अश है 'रजतम्'। इदम् अंश मे यह ज्ञान प्रत्यक्ष है क्योकि 'इदम्' पद से निर्दिश्यमान शुक्तिकादि के साथ चक्षुरिन्द्रिय का सन्निकर्ष हो रहा है इसलिये इदम् अश मे ज्ञान प्रत्यक्ष है और वह यथार्थ ज्ञान है, भ्रम नहीं। इसका दूसरा अश 'रजतम्' है। यह 'इदम्' ज्ञान मे भिन्न अलग ज्ञान है जो स्मरणात्मक है क्योकि वह असन्निहित विषयक है। स्मरणस्थल में भी विषय असन्निहित रहता है इसी प्रकार भ्रमस्थल मे भी रजतादिरूप विषय असन्निहित होता है। इसलिये 'इदं रजतम्' यह ज्ञान 'इदम्' अश मे प्रत्यक्षात्मक और रजताश मे स्मरणात्मक है। ये दोनो ज्ञान ही स्वय मे यथार्थ ज्ञान है। कोई भी भ्रम नहीं है। यदि 'इदम् रजतम्' स्थल मे इन दोनो ज्ञानो के 'इद पश्यामि' और 'रजतं स्मरामि' इस रूप के भेद का ग्रहण हो जाय तो भ्रम का कोई अवसर नहीं रहता किन्तु दोषवश उन दोनों ज्ञानो के भेद का ग्रहण नहीं होता है इसी 'विवेक' अर्थात् भेद [विवेक शब्द यहाँ 'विच्चिर पृथग्भावे' धातु से बना है इसलिये उसका अर्थ पृथग्भाव अर्थात् भेद होता है] का ग्रहण न होने से उसको भ्रम कहा जाता है। यह अख्यातिवादी प्रभाकर

का मत है। इसी को यहाँ भाष्यकार ने 'तद्विवेकाग्रह निबन्धनो भ्रम' इन शब्दो मे व्यक्त किया है।

ख्यातिपचक मे चौथा मत नैयायिक का है जो 'अन्यथाख्याति' नाम से कहा जाता है। इस मत मे जब शुक्तिकादि के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष होता है तब उसके चाकचिक्य चमक आदि रूप सादृश्य के कारण हट्टस्थ बाजार मे रक्खे हुये रजत की प्रतीति होती है। यहाँ शुक्तिका मे रजतत्व धर्म नहीं रहता है। शुक्तिका तदभाववती रजतत्वाभाववती है किन्तु चाकचिक्य के कारण हट्टस्थ रजत में रहने वाला रजतत्व 'प्रकार' अर्थात् विशेषण रूप मे प्रतीत होता है इसलिये यह 'इदम् रजतम् ज्ञान' 'रजतत्वाभाववति रजतत्वप्रकारकम्' ज्ञान होने से भ्रम कहलाता है। इसीको भाष्यकार ने यहाँ 'यत्र यदध्यास. तस्यैव विपरीत धर्मत्वकल्पनामा चक्षते' इन शब्दो मे व्यक्त किया है। इसी को यहाँ अन्यथा-ख्याति नाम से कहा जाता है और वह नैयायिकों का सिद्धान्त है।

'ख्यातिपंचक' मे एक 'ख्याति' और रह जाती है उसका नाम है 'अनिर्वचनीयख्याति' यह वेदान्तियो का मत है। उनका कहना है कि शुक्तिकादि मे जो रजत की प्रतीति होती है उसको न तो सत् कहा जा सकता है क्योंकि उसका बाध हो जाता है और न मिथ्या कहा जा सकता है क्योंकि उसकी प्रतीति हो रही है इसलिये वह रजत 'सत्त्वेन' अथवा 'असत्त्वेन' निर्वक्तुम अशक्य' है न सत् कहा जा सकता है न असत् कहा जा सकता है। इसका अर्थ है कि वह अनि-र्वचनीय है जो न सत् कहला सके न असत् वह अनिर्वचनीय है। वेदान्त मत मे न केवल भ्रम स्थल का रजतत्व ही अनिर्वचनोय है बल्कि ससार के सारे पदार्थ इसी कोटि मे आते है इसलिये उनका मत 'अनिर्वचनीयख्याति' के नाम से कहा जाता है। यहाँ भाष्यकार ने जो सबसे पहला मत दिया है वह उनके 'अनिर्वचनीय ख्यातिवाद' का सूचक है।

अनिर्वचनीय ख्याति में सबसे मुख्य बात यह है कि वेदान्ती भ्रम स्थल मे अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति मानते हैं। अर्थात् जब शुक्तिका मे रजत की प्रतीति होती है तो वहाँ एक अनिर्वचनीय रजत पैदा होता है, जिसे वे आध्यासिक रजत कहते हैं। उस अनिर्वचनीय या आध्यासिक रजत की उत्पत्ति मानने के लिये वे स्वप्न दशा का वर्णन करने वाले एक उपनिषद् वाक्य को प्रस्तुत करते हैं, जिसमे लिखा है—"न तत्र रथाः न रथयोगा. अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते"। अर्थात् स्वप्न दशा मे न रथ होते है न रथयुक्त मार्ग किन्तु स्वप्न देखने वाला स्वयं ही रथो और रथयुक्त मार्गों की सृष्टि या रचना कर लेता है। इस उपनिषद् वाक्य मे 'सृज' धातु का प्रयोग किया

गया है। इसके आधार पर वेदान्ती लोग स्वप्न दशा मे नवीन आध्यासिक रथ और रथयुक्त मार्गों की सृष्टि या उत्पत्ति मानते हैं। इसी उपनिषद् वाक्य के आधार पर वे भ्रम स्थल मे भी अनिर्वचनीय आध्यासिक रजत की उत्पत्ति मानते हैं। यही अनिर्वचनीय ख्यातिवाद की प्रमुख विशेषता है। इन पाँचो ख्यातियों का सग्रह एक श्लोक में निम्न प्रकार किया गया है—

'आत्मख्यातिरसख्यातिरख्यातिख्यातिरन्यथा ।
तथानिर्वचनीयख्यातिरित्येतत्ख्यातिपंचकम् ॥'

आत्मा में अध्यास का उपपादन—

यहा तक भाष्यकार ने अध्यास का लक्षण करते हुये उसके विषय मे अन्य मतो की मान्यताओ का उल्लेख किया है। अब आगे वे इस बात का उपपादन करेंगे कि 'प्रत्यगात्मा' में अर्थात् जीवात्मा मे विषयो का अध्यास कैसे होता है। 'प्रत्यगात्मा' शब्द का निर्वचन 'प्रतीप विरुद्धं सुखदुःखादिकं अञ्चति विजानातीति प्रत्यक् स चासौ आत्मा इति प्रत्यगात्मा' अर्थात् जो प्रतीप प्रतिकूल वेदनीय अपने स्वरूप से विपरीत सुखदु खादि का अनुभव करता है वह आत्मा प्रत्यगात्मा कहलाता है अर्थात् यहा भाष्यकार ने जीवात्मा के लिये प्रत्यगात्मा शब्द का प्रयोग किया है। यह नवीन अपरिचित शब्द का प्रयोग पाठकों को कठिनाई मे डाल देता है इसके स्थान पर यदि अधिक प्रचलित जीवात्मा शब्द का प्रयोग किया जाता तो विषय जल्दी समझ मे आता और अधिक स्पष्ट हो जाता इसी प्रकार 'भ्रम' के स्थान पर 'अध्यास' शब्द का प्रयोग भी विषय को दुरूह बनाने वाला है पर उस समय के विद्वानों मे विषय को सरल बनाने के बजाय दुरूह बना देना ही पांडित्य समझा जाता था इसलिये भाष्यकार की शैली मे स्थल-स्थल पर दुरूहता प्रतीत होती है। प्रसाद गुण इसमे नहीं है।

आत्मा मे विषय का अध्यास कैसे होगा? यह प्रश्न इसलिये उठा कि वह निराकार है और उसे विषय से भिन्न विषयी कहा गया है। अध्यास या आरोप तो प्रत्यक्षस्थित विषय मे होता है यहा जब आत्मा को अविषय मानते है तब उसमे विषय और उसके धर्मों का अध्यास कैसे बनेगा? इसका समाधान करने के लिये भाष्यकार पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष को प्रश्नोत्तर रूप मे निम्न-प्रकार प्रस्तुत करते है।

प्रश्न—अविषयभूत प्रत्यगात्मा [अर्थात् जीवात्मा] मे विषय और उसके धर्मों का अध्यास कैसे बनेगा? क्योंकि सर्वत्र प्रत्यक्ष दृश्यमान विषय मे ही दूसरे

सर्वो हि पुरोऽवस्थिते विषये विषयान्तरमध्यस्यति, युष्मत्प्रत्ययापेतस्य च प्रत्यगात्मनोऽविषयत्वं ब्रवीषि। उच्यते—न तावदयमेकान्तेनाविषयः अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्,। अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः। न चायमस्तिनियमः पुरोऽवस्थित एवं विषये विषयान्तरमध्यसितव्यमिति। अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तल-मलिनताद्यध्यस्यन्ति। एवमविरुद्धः प्रत्यगात्मन्यप्यनात्माध्यासः। तमेतमेवं लक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते। तद्विवेकेन च वस्तुस्वरूपावधारणं विद्यामाहुः। तत्रैवं सति यत्र यदध्यासस्तत्कृतेन दोषेण गुणेन वाऽणुमात्रेणापि स न संबध्यते, तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं

विषय का आरोप [अध्यास] होता है और आपने युष्मत्प्रत्यय का विषय न होने से आत्मा को अविषय माना है। तब उसमे [विषय और उसके धर्मों का अध्यास या आरोप सम्भव नहीं है यह प्रश्नकर्ता का आशय है। भाष्यकार सिद्धान्तपक्ष को ओर से इस प्रश्न का उत्तर अगली पंक्ति मे निम्न प्रकार देते है।]

उत्तर—अस्मत्प्रतीति का विषय होने से तथा प्रत्यगात्मा [अर्थात् जीवात्मा] की [प्रसिद्धि अर्थात्] अनुभूति के [अपरोक्षत्वाच्च] साक्षात्कारात्मक होने के कारण [तावत्] पहले तो [नायमेकान्तेन अविषयः] इस [जीवात्मा] को सर्वथा अविषय नहीं कहा जा सकता और दूसरी बात यह भी है कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि सामने प्रत्यक्ष दिखलाई देने वाले पदार्थ मे ही दूसरे पदार्थ का [अध्यास] अर्थात् आरोप किया जाय क्यों कि ["बाला"] अर्थात् अज्ञानी लोग प्रत्यक्ष न दिखलाई देने वाले आकाश मे भी तल की मलिनता आदि का आरोप करते हैं [और उसके आधार पर 'मलिन नभः' इत्यादि लौकिक व्यवहार देखा जाता है] इसलिये [अर्थात् उपर्युक्त दोनो कारणों से] प्रत्यगात्मा [अर्थात् जीवात्मा] मे भी अनात्मा [अर्थात् जगत्] का [अध्यास] अर्थात् आरोप युक्तिविरुद्ध नहीं है। इस प्रकार पूर्वप्रदर्शित लक्षण वाले अध्यास को विद्वान लोग 'अविद्या' नाम से कहते हैं और उसके विपरीत वस्तु [अर्थात् जीवात्मा] के स्वरूप साक्षात्कार को 'विद्या' कहते हैं। इस प्रकार जिस [प्रत्यगात्मा प्रतीपं सुखदुःखादिकं अञ्चति विजानाति

पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि।

इति प्रत्यक् स चासौ आत्मा अर्थात् सुख-दुःख का अनुभव करने वाले अर्थात् जीवात्मा] मे जिस [जगत् के घटादि पदार्थों] का आरोप किया जाता है। उस [आरोप्यमाण जगत्] के गुण और दोष से उस अर्थात् [आरोप विषय प्रत्यगात्मा पर लेशमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ता है। आत्मा और अनात्मा के एक दूसरे मे होने वाले और अविद्या नाम से प्रसिद्ध अध्यास का अवलम्बन कर लौकिक और वैदिक सारे व्यवहार चलते हैं और विधि तथा निषेध और मोक्षपरक सारे शास्त्र भी [उसी अध्यास या अविद्या के आधार पर प्रवृत्त होते हैं]

इस भाष्यग्रन्थ के आरम्भ मे यह शंका उठाई गई है कि अविषयप्रत्यगात्मा [अर्थात् जीवात्मा] मे विषय और उसके धर्मों का अध्यास कैसे होगा ? शंका करने वाले का तात्पर्य यह है कि जो चीज दिखलाई देती है उसमे तो दूसरी वस्तु का आरोप किया जा सकता है। जैसे शुक्तिका दिखलाई देती है तो उसमे दूसरी वस्तु रजत का आरोप करके 'इदं रजतम्' यह व्यवहार बन जाता है। पर वायु दिखलाई नहीं देता, आकाश भी दिखलाई नहीं देता उनमे रजत की भ्रान्ति या रजत का आरोप भी कभी नहीं होता इसी प्रकार प्रत्यगात्मा अप्रत्यक्ष है। बाह्य इन्द्रियों से दिखलाई नहीं देता अतः उसमें विषय और उसके धर्मों का अध्यास नहीं बन सकता है यह शंका करने वाले का आशय है। इसका समाधान करने का यत्न भाष्यकार ने किया है पर उनका वह समाधान बहुत निम्नकोटि का है, सन्तोषजनक नहीं है, शब्द प्रपंचमात्र है। उसके उन्होंने दो विभाग किये है। पहली बात तो यह कही है कि प्रत्यगात्मा [अर्थात् जीवात्मा] को सर्वथा अविषय नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह अस्मत्प्रत्यय का विषय है इसलिये उस विषयभूत आत्मा मे विषयभूत जगत् तथा उसके धर्मों का अध्यास बन जाता है। यह भाष्यकार के समाधान का पहला भाग है। इसे हम शब्द प्रपचमात्र कह रहे है क्योंकि अभी भाष्यग्रन्थ के आरम्भ मे भाष्यकार विषय और विषयी को तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभाव और आत्मा को अविषय बतला चुके है और यहाँ फिर उसके विपरीत उसको विषय बतला रहे है। यह युक्तिसगत नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि भाष्यकार को अपना अभिप्राय व्यक्त करने के लिये उचित शब्द नहीं मिल रहे है या फिर उनके मस्तिष्क मे विषय की रूपरेखा ही स्पष्ट नहीं है इसीलिये वे इस

प्रकार की अस्पष्ट शब्दप्रपचमयी रचना का अवलम्बन कर रहे हैं इससे पढने वाला आदमी एक उलझन मे फँस जाता है और विषय को साफ तौर से समझ नहीं पाता। अभी इसी समाधान मे प्रत्यगात्मा अर्थात् सुख-दुःख का अनुभव करने वाले जीवात्मा मे जगत् का अध्यास दिखलाने का यत्न इन्होंने किया है यह प्रत्यगात्मा शब्द का प्रयोग भी विषय को उलझा देने वाला है वह उलझन आगे चलकर मालूम होगी।

भाष्यकार के समाधान का दूसरा भाग वह है कि जिसमे उन्होने यह माना है कि अध्यास या आरोप के लिये आरोप विषय या आरोप के आधार का प्रत्यक्ष होना आवश्यक नहीं है। क्योकि अप्रत्यक्ष आकाश मे भी अज्ञानी लोग तल की मलिनता आदि का आरोप करते हैं इसलिये अप्रत्यक्ष प्रत्यगात्मा मे भी जगत् का आरोप या अध्यास हो सकता है। भाष्यकार का यह समाधान भी बहुत सन्तोष-जनक और उच्चकोटि का समाधान नहीं है। जो लोग नील नभः, स्वच्छ नभ, मलिन नभ आदि व्यवहार करते हैं वह दर्शनशास्त्र से पारिभाषिक आकाश को लेकर नहीं अपितु ऊपर प्रत्यक्ष दिखलाई देने वाले नीलवर्णात्मक सर्वजनसंवेद्य आकाश को लेकर करते है। दर्शनशास्त्र का पारिभाषिक आकाश भले ही निरा-कार और अप्रत्यक्ष हो किन्तु लोक मे नीलवर्ण दिखलाई देने वाला आकाश अप्रत्यक्ष नहीं, प्रत्यक्ष है उसी के विषय मे स्वच्छ नभः, मलिनं नभः आदि व्यवहार होता है। इसलिये उसे अप्रत्यक्ष वस्तु मे आरोप की सिद्धि के लिये समर्थक प्रमाण के रूप मे उपस्थित नहीं किया जा सकता। भाष्यकार ने ऐसी निस्सार बात को अध्यासवाद जैसे सिद्धान्त के समर्थन के लिये प्रमाणरूप मे प्रस्तुत किया है यह उचित नहीं है।

भाष्यकार ने अभी तो शंका का केवल एक पहलू उठाया है और उसका समाधान करने का यत्न किया है। पर शंका का एक पहलू और भी है जो इससे अधिक महत्त्वपूर्ण है परन्तु उन्होंने उसे छूआ भी नहीं है। उन्होने यह शका तो उठाई कि अविषयभूत या अप्रत्यक्ष प्रत्यगात्मा [जीवात्मा] मे जगत् का अध्यास कैसे बनेगा और उसका समाधान भी अपने ढग से करने का यत्न किया है पर शका का दूसरा पहलू यह है कि अध्यास या आरोप तो किसी पूर्वदृष्ट वस्तु का प्रत्यक्ष दृश्य-मान वस्तु मे होता है जैसे शुक्तिका प्रत्यक्ष दृश्यमान है उसमे पूर्वदृष्ट रजत का आरोप या अध्यास हो सकता है परन्तु आपके अध्यासवादी मत मे तो जगत् का स्वय कोई अस्तित्व ही नहीं है, सब कुछ मिथ्या है, असत् है। तब उस असत् वस्तु का आरोप अप्रत्यक्ष आत्मा मे कैसे बनेगा। यह शंका का दूसरा किन्तु पहले से भी अधिक महत्त्वपूर्ण पहलू है जिसका उत्तर भाष्यकार ने कुछ भी नहीं दिया है

कथंपुनरविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि चेति। उच्यते—देहेन्द्रियादिष्वहंममाभिमानरहितस्यप्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाणप्रवृत्त्यनुपपत्तेः। न हीन्द्रियाण्यनुपादाय प्रत्यक्षादिव्यवहारः संभवति। न चाधिष्ठानमन्तरेणेन्द्रियाणां

इस प्रकार असत् जगत् का अप्रत्यक्ष प्रत्यगात्मा मे आरोप या अध्यास मानना वायु मे बन्ध्यापुत्र की प्रतीति और आकाश मे खपुष्प की स्थिति मानने से अधिक महत्त्व नहीं रखता है। और ऐसे सिद्धान्त का समर्थन भाष्यकार जैसे विद्वच्छिरोमणि को शोभा नहीं देता।

शास्त्र और प्रमाण अविद्वानों के लिये है—

ऊपर की पक्तियो मे भाष्यकार ने यह प्रतिपादन किया है कि प्रत्यक्षादि प्रमाण और शास्त्रीय व्यवहार सब कुछ 'अविद्यावद्विषयक' [अविद्यावान् पुरुषो विषयो यस्य तदविद्यावद्विषयक] अर्थात् अविद्वान् पुरुषों के लिये है, विद्वानो के लिये नहीं है। उनकी यह मान्यता भी साधारण मान्यताओ से बिल्कुल भिन्न और विचित्र मालूम होती है किन्तु उन्होंने उसको सिद्ध करने के लिये प्रश्न उठाकर उसका उत्तर दिया। उनके उस प्रश्न तथा उत्तरभाग का अनुवाद निम्न प्रकार से है—

प्रश्न—प्रत्यक्षादि प्रमाण तथा शास्त्रो को आप अविद्यावद्विषयक कैसे कहते हैं?

उत्तर—सुनिये, [पहली बात तो यह है कि] देह तथा इन्द्रियादि मे अहंता या ममता के अभिमान से रहित [शुद्ध आत्मा] में प्रमातृत्व न बन सकने से प्रमाण की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती है [इसलिये आत्मा मे प्रमातृत्व आभिमानिक और अविद्यामूलक है। उसी प्रमातृत्व के आधार पर प्रमाण तथा प्रमेय व्यवहार प्रवृत्त होता है। प्रमाता के होने पर ही किसी को प्रमाण या किसी को प्रमेय कहा जा सकता है। जब प्रमातृत्व ही आभिमानिक और अविद्यामूलक है तब प्रत्यक्षादि प्रमाण तथा प्रमेयादि व्यवहार स्वयं ही अविद्यावद्विषयक सिद्ध हो जाता है, यह भाष्यकार का आशय है। इसीको और अधिक स्पष्ट करने के लिये वे अपने युक्तिक्रम को और आगे जारी रखते हुये लिखते है कि] क्योकि इन्द्रियादि का सहारा लिये बिना प्रमाणादि व्यवहार नहीं बनता है और इन्द्रियो का अधिष्ठाता [नियामक या प्रेरक] बने बिना देह से कोई काम नहीं ले सकता है और इस सबके बिना असग आत्मा मे प्रमातृत्व नहीं बन सकता है और प्रमातृत्व के बिना प्रमाणो की प्रवृत्ति नहीं

व्यवहारः सम्भवति। न चानध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद्व्याप्रियते न चैतस्मिन्सर्वस्मिन्नसति असङ्गस्यात्मनः प्रमातृत्वमुपपद्यते। न च प्रमातृत्वमन्तरेण प्रमाणप्रवृत्तिरस्ति। तस्मादविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च।

हो सकती है। इसलिये प्रत्यक्षादि प्रमाण तथा शास्त्र सब [अविद्यावद्विषयक] अविद्यावान् पुरुषो के लिये ही है।

इस युक्तिक्रम से भाष्यकार ने यह प्रतिपादन किया है कि आत्मा मे प्रमातृत्व अर्थात् ज्ञानाश्रयत्व या ज्ञातृत्व स्वाभाविक नहीं अपितु आभिमानिक अविद्यामूलक है क्योंकि पुरुष अर्थात् आत्मा असग है अर्थात् कर्तृत्व भोक्तृत्वादि धर्मों से रहित है इसलिये उसमे प्रमातृत्व अविद्यामूलक ही है इसका परिणाम यह निकलता है कि जब प्रमातृत्व ही अविद्यामूलक है तब प्रमाणादि व्यवहार स्वय ही अविद्यामूलक अविद्यावद्विषयक सिद्ध हो जाते है, किन्तु यहीं पर मौलिक प्रश्न उपस्थित होता है। ऊपर हम दिखला चुके है कि इस वेदान्तदर्शन का नाम "ब्रह्ममीमासा" भी है और "शारीरक मीमासा" भी है। 'ब्रह्ममीमासा' मे ब्रह्म शब्द का अर्थ ईश्वर है जिसे अगले 'जन्माद्यस्य यतः' वेदान्त सूत्र १।१।२ मे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय का कारण कहा है। और शारीरक मीमासा नाम मे शारीरक शब्द का अर्थ 'शरीरे भवः शारीरः' अर्थात् शरीर मे रहने वाला जीवात्मा है। वेदान्तदर्शन मे ईश्वर और जीव इन दोनो का विवेचन किया गया है इसीलिये उसके ब्रह्ममीमासा तथा शारीरक मीमासा दोनों अलग-अलग नाम प्रचलित हैं। इनमे से केवल परमात्मा या ईश्वर ही नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव असग आदि विशेषणो से युक्त है, प्रत्यगात्मा अर्थात् जीवात्मा नहीं। 'प्रतीप सुखदुःखादिक अञ्चति विजानाति इति प्रत्यक्' सुखदुःख का अनुभव करने वाला होने से ही जीवात्मा को प्रत्यगात्मा कहा जाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सुखदुःखादि और उसके साथ ही कर्तव्य भोक्तृत्व प्रमातृत्व आदि धर्म सब जीवात्मा के स्वाभाविक धर्म हैं। जीवात्मा असंग नहीं केवल ईश्वर ही असंग है। यहाँ भाष्यकार ने अपने युक्ति प्रवाह में प्रत्यगात्मा या जीवात्मा को असग कहकर सारे विषय को गड़बड़ कर डाला है उलझा दिया है इसीलिये वे प्रत्यक्षादि प्रमाण तथा शास्त्रीय व्यवहार सब मूर्खों के लिये है ऐसा सिद्ध कर रहे है किन्तु उनका यह विवेचन भी शब्दप्रपंच या मायावाद का मायाजाल है। हमे उससे बचकर चलने के लिये काफी

पश्वादिभिश्चाविशेषात् । यथा हि पश्वादयः शब्दादिभिः श्रोत्रादीनां सम्बन्धे सति शब्दादिविज्ञाने प्रतिकूले जाते ततो निवर्तन्ते, अनुकूले च प्रवर्तन्ते, यथा दण्डोद्यतकरं पुरुषमभिमुखमुपलभ्य मां हन्तुमयमिच्छतीति पलायितुमारभन्ते, हरिततृणपूर्णपाणिमुपलभ्य तं प्रत्यभिमुखीभवन्ति, एवं पुरुषा अपि व्युत्पन्नचित्ताः क्रूरदृष्टीनाक्रोशतः खड्गोद्यतकरान्बलवतः उपलभ्य ततो निवर्तन्ते तद्विपरीतान्प्रति प्रवर्तन्ते, अतः समानः पश्वादिभिः पुरुषाणां प्रमाणप्रमेयव्यवहारः । पश्वादीनां च प्रसिद्धोऽविवेकपुरःसरः प्रत्यक्षादिव्यवहारः । तत्सामान्यदर्शनाद्व्युत्पत्तिमतामपि पुरुषाणां प्रत्यक्षादिव्यवहारस्तत्कालः समान इति निश्चीयते ।

सावधानी बरतनी होगी अन्यथा इस मायाजाल मे फँसकर फिर उससे उबरने का रास्ता नहीं मिलेगा ।

भाष्यकार ने प्रमाणादि व्यवहार और शास्त्रीय व्यवहार अविद्यावद्विषयक अर्थात् मूर्खों के लिये है इस बात को सिद्ध करने के लिये आगे और भी युक्ति दी है उनका अनुवाद निम्न प्रकार है—

[और प्रमाणादि व्यवहार] के पशु आदियो के सदृश होने से भी [प्रमाणादि व्यवहार अविद्यावद्विषयक अर्थात् मूर्खों के लिये] है। जैसे पशु आदि शब्दादि का श्रोत्रादि के साथ सम्बन्ध होने पर शब्दादि का ज्ञान प्रतिकूल मालूम पडने से [उस ओर से] हट जाते हैं और अनुकूल [शब्दादि का ज्ञान] होने पर उसकी ओर प्रवृत्त होते है । जैसे कि हाथ मे डंडा लिये हुये पुरुष को देखकर यह मुझे मारना चाहता है ऐसा समझकर वहाँ से भागने लगते है और हरी घास से भरे हुये हाथवाले पुरुष को देखकर उसकी ओर बढ़ आते हैं। इसी प्रकार मनुष्य भी दूसरे की मन की बात को ताड़कर भयंकर दृष्टि और गाली बकते हुये और हाथ मे तलवार लिये हुये बलवान पुरुष को देखकर उधर से हट जाते है और इससे विपरीत [स्निग्ध दृष्टि और प्रेमपूर्ण व्यवहार वाले पुरुषों] की ओर प्रवृत्त होते है । इसलिये पुरुषों का प्रमाणप्रमेयादि व्यवहार पश्वादि के [प्रमाणप्रमेय व्यवहार] के समान ही है और पश्वादि का प्रमाणप्रमेय व्यवहार अविवेकपूर्वक होता है इसलिये [व्युत्पत्तिमता] अर्थात् विद्वान पुरुषो का उस समय का प्रमाणप्रमेय व्यवहार अविवेकपूर्वक ही होता है [ऐसा मानना चाहिये] ।

इन पंक्तियों मे भाष्यकार ने मनुष्य और पशु दोनो के प्रमाणप्रमेयादि व्यवहार को समकक्ष और अविवेकपूर्ण सिद्ध किया है और वे यह मानकर चले है कि पशुओ का व्यवहार अविवेकपूर्वक ही होता है; पर यह मान्यता भाष्यकार के युग की मान्यता रही होगी। आज की मनोवैज्ञानिक मान्यता वैसी नहीं है। मनुष्य के समान पश्वादि भी बुद्धिमान प्राणी है और कहीं-कहीं मनुष्य से अधिक उनकी बुद्धि काम करती है। हाथी, घोड़ा, कुत्ता, कबूतर, बन्दर सबकी बुद्धिमत्ता के उदाहरण मौजूद हैं और मनोविज्ञान उनके व्यापारो को बुद्धिपूर्वक किया हुआ व्यापार मानता है। चींटी और दीमक जैसे क्षुद्र प्राणियो एव मधुमक्षिका आदि के गृहनिर्माण कौशल देखकर मनुष्य आज भी चकित रह जाता है ऐसे व्यवहारो को अविवेकपुर सर कहना उचित नहीं है। मानव-मानव मे बुद्धि का तारतम्य है कोई अधिक बुद्धिमान है, कोई कम बुद्धिमान। इसी प्रकार का कुछ तारतम्य पुरुष और पशु के बीच है। बुद्धिशून्य न मनुष्य है और न पशु। इसलिये भाष्यकार की यह युक्ति जो वे प्रमाणादि व्यवहार को अविद्यावद्विषयक सिद्ध करने के लिये प्रस्तुत कर रहे हैं निस्तेज-सी दिखलाई देती है।

शास्त्रीय व्यवहार भी अविद्वानो के लिये है—

पिछली पक्तियों मे भाष्यकार ने यह सिद्ध करने का यत्न किया था कि प्रमाणप्रमेयादि व्यवहार अविद्यावद्विषयक है अर्थात् मूर्खों के लिये है। अब अगले ग्रन्थ मे भाष्यकार यह दिखलाने का यत्न करेगे कि विधिनिषेधपरक कर्मकाण्डादि का सारा शास्त्रीय व्यवहार भी मूर्खों के लिये ही है इसको सिद्ध करने के लिये उन्होंने इस आधार को पकड़ा है कि कर्मकाण्ड का व्यवहार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि वर्ण के लिये अलग-अलग निर्धारित किया गया है उसमे भी अवस्थादि का भेद होने से ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ और सन्यासाश्रम आदि के भेद से कर्मविधान मे भेद आ जाता है इसका अभिप्राय यह है कि किसी विशेष कर्म के करने का अधिकारी ब्राह्मण ही है। किसी के करने का अधिकारी क्षत्रिय या वैश्य ही है। इसी प्रकार किसी कर्म का विधान केवल ब्रह्मचारी के लिये किया गया है किसी का केवल गृहस्थ या वानप्रस्थ के लिये और किसी का केवल सन्यासी के लिये। अब उन-उन विशेष कर्मों को वही व्यक्ति कर सकेगा जो अपने को ब्राह्मण या क्षत्रिय या वैश्य माने अथवा जो अपने को ब्रह्मचारी, गृहस्थ या वानप्रस्थ कहे वही उस कर्म का अधिकारी हो सकता है। आत्मा तो वस्तुतः न ब्राह्मण है, न क्षत्रिय, न वैश्य। इसी प्रकार वह न ब्रह्मचारी है, न गृहस्थ, न वानप्रस्थ। तब जो आत्मा अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य मान-

शास्त्रीये तु व्यवहारे यद्यपि बुद्धिपूर्वकारी 'नाविदित्वात्मनः परलोकसम्बन्धमधिक्रियते तथापि न वेदान्तवेद्यमशनायाद्यतीतमपेतब्रह्मक्षत्रादिभेदमसंसार्यात्मतत्त्वमधिकारेऽपेक्ष्यते, अनुपयोगादधिकारविरोधाच्च। प्राक् तथाभूतात्मविज्ञानात्प्रवर्तमानं शास्त्रमविद्यावद्विषयत्वं नातिवर्तते। तथाहि–'ब्राह्मणो यजेत' इत्यादीनि शास्त्राण्यात्मनि वर्णाश्रमवयोवस्थादिविशेषाध्यासमाश्रित्य प्रवर्तन्ते। अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यवोचाम। तद्यथा पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव

कर कर्मकाण्ड मे प्रवृत्त होता है अथवा अपने को ब्रह्मचारी, गृहस्थ या वानप्रस्थ समझकर किसी विशेष कर्म का अधिकारी मानता है वह अविद्यावान पुरुष है और शास्त्रीय व्यवहार ऐसे ही अविद्यावान पुरुषो के द्वारा सम्पादित किया जाता है इसलिये भाष्यकार के मत मे 'अविद्यावद्विषयाणि–शास्त्राणि' अर्थात् शास्त्र भी अविद्वानो के लिये है, यह भाष्यकार का युक्तिक्रम है। इसको वे निम्न प्रकार से प्रस्तुत करते है—

शास्त्रीय व्यवहार में यद्यपि बुद्धिमान पुरुष आत्मा के परलोक सम्बन्ध को [अर्थात् आत्मा की नित्यता को] समझे बिना अधिकारी नहीं बनता है किन्तु फिर भी वेदान्तप्रतिपादित भूख प्यासादि धर्मों से रहित [अशनाद्यपेतम् ब्राह्मण, क्षत्रिय के भेद से रहित असंसारी आत्मतत्त्व की कोई आवश्यकता या अपेक्षा, उसका उपयोग न होने और [ब्राह्मण-क्षत्रियादि के भेद से रहित आत्मा के कर्मकाण्ड मे अधिकार का विरोधी होने से [वेदान्त-प्रतिपाद्य] आत्मा का ज्ञान कर्मकाण्ड मे अपेक्षित नहीं है। इसलिये कर्मकाण्ड भी अविद्यावद्विषयक है] और उस प्रकार के [वेदान्त प्रतिपाद्य असंसारी] आत्मतत्त्व के ज्ञान से पहले पहल [अर्थात् आत्मज्ञान होने के पूर्व] प्रवृत्त होने वाला शास्त्र। अर्थात् शास्त्रीय व्यवहार विद्वानो की सीमा का अतिक्रमण नहीं करता है [अर्थात् अविद्वानो के लिये ही होता है] जैसे कि 'ब्राह्मणोयजेत' ब्राह्मण याग करे इत्यादि शास्त्र आत्मा मे वर्ण, आश्रम, आयु [अष्टवर्षं ब्राह्मण उपनयीत्] तथा दशा [स्वस्थता आदि] का [अध्यास का] आरोप करके ही प्रवृत्त होते हैं और हम यह बतला चुके हैं कि जो जैसा नहीं है [अतस्मिंस्तद्बुद्धि] जो जैसा नहीं है उसे वैसा समझने [अर्थात् मिथ्याज्ञान या भ्रम] को ही अध्यास कहते हैं। जैसे कि पुत्र और पत्नी आदि के

विकलः सकलो वेति बाह्यधर्मानात्मन्यध्यस्यति, तथा देहधर्मान् स्थूलोऽहं, कृशोऽहं, गौरोऽहं, तिष्ठामि, लङ्घयामि चेति। तथेन्द्रियधर्मान्—मूकः, काणः, क्लीबः, बधिरः, अन्धोऽहमिति। तथाऽन्तःकरणधर्मान्कामसंकल्पविचिकित्साध्यवसायादीन् एवमहंप्रत्ययिनमशेषस्वप्रचारसाक्षिणि प्रत्यगात्मन्यध्यस्य तं च प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्ययेणान्तःकरणादिष्वध्यस्यति। एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्व-भोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः। अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते।

विकल [दुखी आदि] होने पर मैं ही विकल दुखी हूँ इस प्रकार बाह्य पदार्थों के धर्मों का अपने मे [अध्यास] आरोप करता है और इसी प्रकार मैं मोटा हूँ, मै पतला हूँ, मै गोरा हूँ, खड़ा हूँ या चल रहा हूँ इत्यादि देह के धर्मों का भी आत्मा पर आरोप करता है। और इसी प्रकार गूंगा हूँ, काना हूँ, नपुसक हूँ, बहरा हूँ, अन्धा हूँ इत्यादि इन्द्रिय धर्मों का [आत्मा मे] आरोप करता है। इसी प्रकार काम, सकल्प [विचिकित्सा अर्थात्] सशय, निश्चय आदि अन्तः-करण के धर्मों का [आत्मा मे आरोप करता है] इस प्रकार [अह प्रत्ययि-नम्] अहं प्रत्यय के विषय अर्थात् [अन्तःकरण] करण का [अशेषस्वप्रचार-साक्षिणि] अपने समस्त व्यापारो अर्थात् अन्तःकरण वृत्तियो के साक्षी प्रत्यगात्मा [अर्थात् जीवात्मा] मे अर्थात् अन्तःकरण का जीवात्मा मे आरोप करके और इसके विपरीत समस्त अन्तःकरण वृत्तियों के साक्षीभूत उस प्रत्यगात्मा [अर्थात् जीवात्मा] का अन्तःकरणादि में [अध्यस्य] [अर्थात्] आरोपक है [अध्यस्य] यह स्वाभाविक व्यवहार अनादि काल से चला आ रहा है इस प्रकार का [मिथ्या प्रत्यय रूप] अर्थात् मिथ्याज्ञाना-त्मक या भ्रमात्मक तथा [आत्मा मे] कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि धर्मों को प्रवृत्त करने वाला अनादि और अनन्त यह स्वाभाविक अध्यास समस्त लोगों को अनु-भव होने वाला सर्वजनसंवेद्य प्रत्यक्ष सिद्ध है। अनर्थ के हेतुभूत इस [अध्यास] के नाश के लिये [उपयोगी आत्मा के] एकत्व ज्ञान के लिये [अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा के अभेद अर्थात् अद्वैत सिद्धान्त के ज्ञान के लिये] ही सारे उपनिषदों [वेदान्ताः] की रचना हुई है और समस्त [वेदान्तानां]

यथा चायमर्थः सर्वेषां वेदान्तानां तथा वयमस्यां शारीरकमीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः ।

अर्थात् उपनिषदो का यही प्रतिपाद्य विषय है यह बात हम शारीरक मीमासा [अर्थात् वेदान्त सूत्र के इस भाष्य] मे दिखलायेगे ।

यह अध्यास ग्रन्थ भाष्य का सबसे प्रारम्भिक भाग है । इसे भाष्य का भूमिका भाग कह सकते है जो चार भागो मे विभक्त किया जा सकता है । पहले भाग मे भाष्यकार ने अपने सिद्धान्त के तथ्य को इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि यद्यपि तमः-प्रकाशवद्विरुद्धस्वभाव विषय अर्थात् अन्तःकरणादि विषयी अर्थात् प्रत्यगात्मा [जीवात्मा] का परस्पर अध्यास नहीं बनता है फिर भी यह सारा लोक व्यवहार अध्यासमूलक ही हो रहा है । यहाँ पर भाष्यकार ने केवल अपने अभिमत तथ्यमात्र को प्रस्तुत कर दिया है, उसके लिये कोई युक्ति नहीं दी है । किन्तु जिस युक्ति के आधार पर वे इस तथ्य का प्रतिपादन करना चाहते है वह इस अध्यास भाष्य के अन्त मे आये हुये 'सर्वलोकप्रत्यक्षः' इस शब्द मे प्रदर्शित की गई है । 'सर्वलोक-प्रत्यक्ष' यह अध्यास का विशेषण है । भाष्यकार का अभिप्राय यह है कि अध्यास सर्वलोकप्रत्यक्ष, सर्वजनसवेद्य है अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता है कि उसका सारा लोक व्यवहार मिथ्याज्ञानरूप या भ्रमात्मक है । जो चीज सर्वजन-सवेद्य है उसको सिद्ध करनेके लिये युक्ति ही क्या दी जाय । 'हाथ कंगन को आरसी क्या' इसीलिये भाष्यकार ने अध्यासभाष्य के आरम्भ मे अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुये बिना किसी युक्ति के कोरे मौलिक तथ्य को प्रस्तुत कर दिया है । अध्यासभाष्य का यह आदि और अन्त, उपक्रम और उपसहार, मिल-कर विषय को स्पष्ट करने मे सहायक होते हैं, पर यहाँ प्रश्न यह है कि भाष्यकार जिस अध्यास को 'सर्वलोकप्रत्यक्षः'—'सर्वजनसवेद्य' कह रहे है दूसरे लोग उसी को स्वीकार नहीं करते । वे सासारिक व्यवहार को मिथ्या नहीं मानते क्योकि उसका जीवनपर्यन्त कभी बाध नहीं होता । रज्जु मे सर्प की भ्रान्ति को भ्रम इसलिये कहा जाता है कि प्रकाश मे देखने से उसका बाध हो जाता है । यह अनुभव होता है कि यह तो रज्जु है, सर्प नहीं । इस प्रतीति द्वारा बाधित होने के कारण ही रज्जु मे सर्प प्रतीति को भ्रम कहा जाता है परन्तु ससार की अन्य प्रतीतियो मे यह बात लागू नहीं है । वाराणसी का नगर एक वेदान्ती के जन्म-काल मे था । सारे वेदान्त का तत्त्वज्ञान कर लेने के बाद उसके मरणकाल म भी वाराणसी नगर विद्यमान है । इस बात से वह कट्टर वेदान्ती भी ना नहीं करता है । भाष्यकार के जीवन से पहले भी यह नगर था । भाष्यकार का जीवन

समाप्त हो गया और उनके बाद उनकी गद्दी की एक के बाद दूसरी पीढ़ियाँ समाप्त होती गई। कौन-सा आचार्य ऐसा हुआ जिसने इस नगर की सत्ता अनुभव न की हो? अर्थात् शताब्दियों-सहस्राब्दियो से यह नगर चला आ रहा है और अबाधगति से चलता जायेगा, उसका बाध नहीं हुआ, नहीं होगा। कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति वाराणसी नगर की सत्ता की तुलना रज्जु मे सर्पभ्रान्ति के साथ नहीं कर सकता है। यही बात अन्य लौकिक अनुभूतियो के विषय मे है। जहाँ प्रतीति का बाध होता है वह बाध सर्वजनसंवेद्य होता है। रज्जु मे सर्प-प्रतीति बाधित होती है, शुक्तिका मे रजत-प्रतीति भी बाधित होती है। वे दोनों क्षणिक और भ्रमात्मक प्रतीतियाँ है। इसमे किसी को मतभेद नहीं। यह भ्रम या मिथ्याज्ञान 'सर्वलोकप्रत्यक्ष' सर्वजनसंवेद्य है इसलिये भ्रम है, मिथ्या ज्ञान है। पर विश्व की सारी अनुभूतियाँ इस कोटि मे नहीं आतीं। उनका बाध नहीं होता, यावज्जीवन नहीं होता, पीढी-दरपीढी नहीं होता, शताब्दियों और सहस्राब्दियों तक नहीं होता। फिर भी उसको अध्यासमूलक कहना, भ्रम या मिथ्या ज्ञान ठहराना और सबसे बढ़कर 'सर्वलोकप्रत्यक्ष.' कहने का साहस करना युक्तिसगत नहीं है।

अध्यासभाष्य के चार भागो मे से पहला भाग अपने सिद्धान्त के मौलिक तथ्य को प्रस्तुत करना है। उसे भाष्यकार ने उपक्रम और उपसहार द्वारा प्रस्तुत किया है। इसके दूसरे भाग मे अध्यास का लक्षण किया गया है और उसके साथ अन्य मतो की चर्चा करके भाष्यकार ने यह दिखलाया है कि सभी दार्शनिक अध्यास, अविद्या, भ्रम, मिथ्याज्ञान आदि किसी न किसी रूप मे अध्यास को स्वीकार करते हैं। अध्यासभाष्य के तीसरे भाग मे ग्रन्थकार ने यह दिखलाया है कि अविषयभूत आत्मा मे जगत् का अध्यास कैसे बनता है? पर इस प्रयत्न मे भी वे सफल नहीं हुये हैं। अध्यास ग्रन्थ के चौथे भाग मे उन्होने समस्त लौकिक तथा वैदिक व्यवहारों को प्रत्यक्षादि प्रमाणो और शास्त्रो सभी को 'अविद्याव-द्विषयक' कहा है अर्थात् सारे प्रमाण और सारे शास्त्र केवल मूर्खों और अज्ञानियों के लिये है, तत्त्वज्ञानियो के लिये नहीं। इस प्रकार चार भागों मे अध्यासभाष्य का विभाजन किया जा सकता है।

ब्रह्मजिज्ञासाधिकरण :—

अध्यासभाष्य के बाद भाष्यकार वेदान्त सूत्रों की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं। वेदान्त सूत्रों में सबसे पहला सूत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' है। इस सूत्र मे 'अथ',

'अतः', 'ब्रह्म' और 'जिज्ञासा' चार पद आये है। उनकी विस्तृत व्याख्या भाष्यकार ने की है। इसमे सबसे अधिक बल और शक्ति उन्होंने 'अथ' शब्द के विवेचन मे लगायी है इसलिये भाष्य कुछ लम्बा हो गया। उसके लगभग दो-तिहाई भाग मे 'अथ' शब्द के अर्थ की विवेचना की गई है। शेष तीन शब्दो की व्याख्या और प्रसगगत कुछ अन्य विवेचना केवल एक-तिहाई भाग मे की गई है। 'अथ' शब्द अनेकार्थक शब्द है। 'मंगलानन्तरारम्भप्रश्न-कार्त्स्न्येष्वथो अथ' इत्यादि कोश ग्रन्थ मे (१) मगल (२) अनन्तर (३) आरम्भ (४) प्रश्न (५) कार्त्स्न्य अर्थात् सम्पूर्णता इन पाँच अर्थों मे 'अथो' और 'अथ' शब्दो का प्रयोग दिखाया गया है। कुछ लोग 'अथ' शब्द का वाच्यार्थ मगल न मानकर उसके उच्चारण मात्र को 'अन्यार्थ नीयमान उदकुम्भ' के ममान मगलजनक मानते है। इसका अभिप्राय यह है कि जैसे यात्रा पर जाते समय रास्ते मे जल से भरा घडा दीख जाय तो उसे लोग शुभ शकुन और मगलजनक कहते है। यद्यपि वह जलकुम्भ उस यात्री के शकुन के लिये नहीं ले जाया जा रहा है। पानी भरने वाला अपने काम से जल का घड़ा भरकर ले जा रहा है। यात्री को उसका दर्शन मात्र हो जाता है। अन्यार्थ नीयमान जल-कुम्भ का यह दर्शन जैसे यात्री के लिये मगलजनक होता है इसी प्रकार ग्रन्थ के आरम्भ मे अनन्तर या आरम्भ आदि किसी अन्य अर्थ मे प्रयुक्त 'अथ' शब्द अपने श्रवण मात्र से मगलजनक होता है। जैसा कि निम्नश्लोक से स्पष्ट होता है :—

"ओङ्कारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मण पुरा।
कण्ठ भित्त्वा विनिर्यातौ तेन मागलिकावुभौ ॥"

अन्य ग्रन्थो मे श्लोकादि के रूप मे लम्बे मगलाचरण करने की परम्परा पाई जाती है, पर सूत्र ग्रन्थो मे वैसी परम्परा सम्भव नहीं है। सूत्रकार तो अधिक से अधिक सक्षेप मे बात कहने का यत्न करते है। 'अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सव मन्यन्ते वैयाकरणाः' यह जो उक्ति वैयाकरणो के लिये प्रसिद्ध है वह अन्य सूत्रकारो के ऊपर भी लागू होती है। मीमासा, वेदान्त, साख्य, योग, महाभाष्य आदि ग्रन्थो मे इसी दृष्टि से ग्रन्थारम्भ मे 'अथ' शब्द का प्रयोग किया गया है। वहाँ 'अथ' शब्द के ग्रन्थारम्भ मे प्रयोग से मगलाचरण भी किया गया है और दूसरे अर्थ मे प्रयोग भी किया गया है अर्थात् उसका मुख्य प्रयोग अनन्तर या आरम्भ अर्थों मे है किन्तु ग्रन्थारम्भ मे श्रवण मात्र से मगल-जनक हो रहा है। हमने ऊपर जिन पाँच ग्रन्थो के नाम दिये है उनमे से महाभाष्य और योगदर्शन मे 'अथ' शब्द को अधिकारार्थक अर्थात् आरम्भार्थक

माना है। महाभाष्यकार ने 'अथ शब्दानुशासनम्' की व्याख्या करते हुये 'अथेत्यय शब्दोऽधिकारार्थः। शब्दानुशासनम् नाम शास्त्र अधिकृतं वेदितव्यम्' लिखकर अथ शब्द की व्याख्या की है। इसमें 'अधिकारार्थ' का अर्थ आरम्भार्थक है। इसी प्रकार योग दर्शन के आरम्भ मे 'अथयोगानुशासनम्' इस सूत्र की व्याख्या करते हुये व्यास भाष्य मे 'योगानुशासन नाम शास्त्रमधिकृत वेदितव्यम्' यह पक्ति लिखी गई है। यहाँ भी अथ शब्द को अधिकारार्थक अर्थात् आरम्भार्थक माना गया है। पर पूर्वमीमासा और उत्तरमीमासा अर्थात् वेदान्तदर्शन दोनो मे स्थिति इससे भिन्न है। पूर्वमीमासा के भाष्यकार शबरस्वामी और वेदान्त सूत्रों के भाष्यकार दोनो ने अथ शब्द को आरम्भार्थक न मानकर आनन्तर्यार्थक माना है। पर वह प्रयास कुछ जॅचा नहीं। 'अथ' शब्द को आनन्तर्यार्थक मानने पर 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस मीमासासूत्र का अर्थ 'अनन्तर धर्मजिज्ञासा कर्त्तव्या' यह होता है। इसी प्रकार 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' का अर्थ 'अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा कर्त्तव्या' इन दोनो स्थलो पर किसके अनन्तर धर्मजिज्ञासा या ब्रह्मजिज्ञासा की जाय यह प्रश्न स्वय उपस्थित हो जाता है और उसका उत्तर हमें ग्रन्थ से बाहर किसी पूर्वसिद्ध व्यापार को लेकर करना पड़ता है। जैसे मीमासा दर्शन में स्वाध्याय अर्थात् वेदाध्ययन, वेद के कण्ठस्थीकरण के बाद 'धर्मजिज्ञासा' अर्थात् वेदार्थ की जिज्ञासा करनी चाहिये ऐसी व्याख्या की गई है। इसी प्रकार वेदान्त में 'अथ' शब्द को आनन्तर्यार्थक मानने पर किसके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा की जाय, यह प्रश्न उपस्थित होता है। भाष्यकार ने इसका उत्तर 'साधनचतुष्टयसम्पत्ति' के अनन्तर 'ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या' यह दिया है। साधन चतुष्टय में (१) नित्यानित्यवस्तुविवेक (२) इहामुत्रफलभोगविराग (३) शमादिषट्कसम्पत्ति (४) मुमुक्षुत्व का सग्रह होता है। इन चारो के सिद्ध होने के बाद ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये यह भाष्यकार का सिद्धान्त पक्ष है। किन्तु उसको देने के पहले भाष्यकार ने दो पूर्वपक्ष और दिये है। पहला पूर्वपक्ष तो स्वाध्यायानन्तर्य का है और दूसरा कर्मावबोधानन्तर्य का है। स्वाध्यायानन्तर्य पक्ष का तात्पर्य वही है जो पूर्वमीमांसा का। पूर्वमीमासा में स्वाध्याय अर्थात् वेदाध्ययन के अनन्तर 'ब्रह्मजिज्ञासा कर्त्तव्या' यह सिद्धान्त पक्ष ठहराया गया है। इसी प्रकार यहाँ वेदान्त मे भी स्वाध्याय अर्थात् वेदाध्ययन के अनन्तर 'ब्रह्मजिज्ञासा कर्त्तव्या' यह बात कही जा सकती है। पर भाष्यकार इस बात को स्वीकार नहीं करते। इसलिये उन्होने इसको पूर्वपक्ष के रूप मे रखकर उसका खण्डन किया है। यह 'अथ' शब्द की व्याख्या का एक भाग है। उसका दूसरा भाग कर्मावबोधानन्तर्य वाला पक्ष है। कर्मावबोधानन्तर्य पक्ष का अभिप्राय यह है कि कर्मावबोध अर्थात् कर्मकाण्ड के प्रतिपादक पूर्वमीमांसाशास्त्र के अध्ययन के बाद 'ब्रह्मजिज्ञासा

कर्त्तव्या' ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये यह बात कही जा सकती है। पर वेदान्त-भाष्यकार इस बात को भी स्वीकार नहीं करते इसलिये उन्होंने इस बात को भी पूर्वपक्ष मे रखकर उसका खण्डन किया है। यह खण्डन बहुत क्लिष्ट और बहुत लम्बा हो गया है। यह 'अथ' शब्द की व्याख्या का दूसरा भाग है। इस कर्मावबोधानन्तर्य वाले पक्ष के विस्तृत एव अत्यन्त दुरूह खण्डन के बाद भाष्यकार ने अपना सिद्धान्त पक्ष लिया है। सिद्धान्त पक्ष यह है कि साधनचतुष्टयसम्पत्ति के अनन्तर 'ब्रह्मजिज्ञासा कर्त्तव्या' इस प्रकार 'अथ' शब्द की व्याख्या के तीन भाग हो जाते है। हमने उन तीनो भागो का विश्लेषण करके उनका सारांश यहाँ दे दिया है। इसको हृदयंगम कर लेने से भाष्य की पक्तियो को समझने मे बहुत सहायता मिलेगी। इसी दृष्टि से हमने इस विश्लेषण को यहाँ प्रस्तुत किया है।

प्रथमाध्याये प्रथमः पादः

[अत्र पादे स्पष्टब्रह्मलिङ्गयुक्तानां वाक्यानां विचारः]

१ जिज्ञासाधिकरणम् ।

वेदान्तमीमांसाशास्त्रस्य व्याचिख्यासितस्येदमादिमं सूत्रम्—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ १ ॥

अत्राथ शब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते नाधिकारार्थः, ब्रह्म-जिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात् । मङ्गलस्य च वाक्यार्थे समन्वया-भावात् । अर्थान्तरप्रयुक्त एव ह्यथशब्दः श्रुत्या मङ्गलप्रयोजनो भवति । पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च फलत आनन्तर्याव्यतिरेकात् ।

अब भाष्य की पंक्तियों का अर्थ देखिये—

(१) ब्रह्मजिज्ञासाधिकरण :—

वेदान्त मीमांसा शास्त्र का जिसकी हम व्याख्या करना चाहते हैं यह ['अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'] पहला सूत्र है।

अथ शब्द की 'आनन्तर्यार्थकता' का उपपादन :—

उसमें 'अथ' शब्द आनन्तर्य अर्थ में लिया गया है। 'अधिकार' [अर्थात् आरम्भ] अर्थ में नहीं क्योंकि ब्रह्मजिज्ञासा आरम्भ करने योग्य नहीं है [अन-धिकार्यत्वात्] और मंगल [जो कि 'अथ' शब्द का दूसरा अर्थ होता है उस] का वाक्यार्थ में [अर्थात् ब्रह्मजिज्ञासा के साथ] समन्वय नहीं बनता [इसलिये यहाँ अथ शब्द को मंगलार्थक भी नहीं माना गया है। 'अथ' शब्द को मंगलार्थक न मानने का दूसरा कारण आगे दिखलाते हैं कि] अन्य अर्थ [अर्थात् आनन्तर्यार्थ] में प्रयुक्त होने पर भी 'अथ' शब्द [अन्यार्थ नीयमान जल-कुम्भ के दर्शन के समान] श्रवण मात्र से मंगलजनक होता है [इसलिये 'अथ' शब्द यहाँ न अधिकारार्थ में लिया गया है और न मंगलार्थ में, अपितु उसका प्रयोग आनन्तर्यार्थ में है। यह भाष्यकार का आशय है। और 'पूर्वप्रकरणागत अर्थ की अपेक्षा' [यह भी अथ शब्द का अर्थ हो सकता है] तो फलतः आनन्तर्य अर्थ से भिन्न नहीं ठहरती [अर्थात् पूर्वप्रकरणागत अर्थ के बाद

सति चानन्तर्यार्थत्वे यथा धर्मजिज्ञासा पूर्ववृत्तं वेदाध्ययनं नियमेनापेक्षत एवं ब्रह्मजिज्ञासापि यत्पूर्ववृत्तं नियमेनापेक्षते तद्वक्तव्यम् ।

'ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या' इस रूप मे 'पूर्वप्रकृतापेक्षा' अथ शब्द का अर्थ मानने पर वह भी आनन्तर्य रूप ही बनता है इसलिये अथ शब्द को आनन्तर्यार्थक मानना ही उचित है।

९ स्वाध्यायानन्तर्यपक्ष :—

[प्रश्न] 'अथ' [शब्द को आनन्तर्यार्थक मानने पर जैसे धर्मजिज्ञासा-शास्त्र [अर्थात् पूर्वमीमासादर्शनधर्मजिज्ञासा के आरम्भ से] पहले होने वाले वेदाध्ययन [अर्थात् वेद के कण्ठस्थीकरण] की अपेक्षा रखता है इस प्रकार ब्रह्ममीमासा [अर्थात् प्रकृतवेदान्तदर्शन] भी अपने से पहले अनिवार्य रूप से होने वाले जिस किसी वस्तु की अपेक्षा रखता है उसको कहना चाहिये [अर्थात् बतलाइये]

जब भाष्यकार ने अथ शब्द को आनन्तर्यार्थक माना है तो स्वयं यह प्रश्न उपस्थित होता है कि किसके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये। पूर्वमीमासा-दर्शन के 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस प्रथम सूत्र मे अथ शब्द को उसके भाष्य-कार शबरस्वामी ने आनन्तर्यार्थक माना है इसलिये वहाँ भी यह प्रश्न उपस्थित किया गया है कि किसके बाद धर्मजिज्ञासा करनी चाहिए। इसी प्रकार का प्रश्न यहाँ वेदान्तदर्शन के भाष्यकार ने 'एव ब्रह्मजिज्ञासा यत्पूर्ववृत्त नियमे-नापेक्षते तद्वक्तव्यमित्यादि' पंक्ति के द्वारा ऊपर उपस्थित किया है। इसके दो प्रकार के उत्तर भाष्यकार पूर्वपक्ष के रूप मे प्रस्तुत करेंगे और उनका खण्डन करने के बाद सिद्धान्तपक्ष का उत्तर प्रस्तुत करेंगे। पूर्वपक्ष वाले दो उत्तरों मे से पहला उत्तर तो यह है कि जैसे पूर्वमीमासा अर्थात् धर्मजिज्ञासाशास्त्र के पहले नियमित रूप से 'स्वाध्याय' अर्थात् वेदाध्ययन की आवश्यकता होती है इसी प्रकार उत्तरमीमासा अर्थात् यह वेदान्तदर्शन भी नियमत. पूर्ववर्ती स्वाध्याय अर्थात् वेदाध्ययन की अपेक्षा रखता है। ऊपर दिये हुये प्रश्न का पहला उत्तर यह स्वाध्यायानन्तर्य वाला पक्ष है पर भाष्यकार इसे स्वीकार नहीं करते है। उनका कहना है कि वेदान्तदर्शन या ब्रह्ममीमासाशास्त्र की प्रवृत्ति का विशेष हेतु बतलाना चाहिये। यह जो स्वाध्यायानन्तर्य वाला पक्ष है वह वेदान्त-दर्शन की प्रवृत्ति का विशेष हेतु नहीं अपितु पूर्वमीमासाशास्त्र अर्थात् धर्म-जिज्ञासाशास्त्र के साथ सामान्य हेतु है। इसलिये उसे छोड़कर ऐसा विशेष पूर्ववर्ती

स्वाध्यायानन्तर्यं तु समानम् । नन्विह कर्मावबोधानन्तर्यं विशेषः ।

न । धर्मजिज्ञासायाः प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः ।

अर्थ बतलाना चाहिये जो वेदान्तदर्शन की प्रवृत्ति मे ही हेतु बनता हो। धर्मजिज्ञासा शास्त्र आदि अन्य शास्त्रो की प्रवृत्ति का हेतु न हो। इसी बात को भाष्यकार अगली पंक्ति म निम्नप्रकार से कहते है :—

उत्तर :—स्वाध्याय [अर्थात् वेदाध्ययन] का आनन्तर्य [अर्थात् वेदाध्ययन के अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये यह बात] तो [धर्मजिज्ञासाशास्त्र अर्थात् पूर्वमीमासादर्शन के साथ] समान है [अर्थात् वेदाध्ययन के अनन्तर ही धर्मजिज्ञासाशास्त्र की प्रवृत्ति होती है उसी को आप ब्रह्मजिज्ञासाशास्त्र की प्रवृत्ति का भी हेतु कहना चाहे तो वह दोनो जगह समान रहने वाला हेतु बना। वेदान्तदर्शन की प्रवृत्ति का विशेष हेतु नहीं बना इसलिये स्वाध्यायानन्तर्य वाला पक्ष उचित नहीं है।

कर्मावबोधानन्तर्य :—

पक्ष :—स्वाध्यायानन्तर्य पक्ष के खण्डन के बाद भाष्यकार अब 'कर्मावबोध' पक्ष उपस्थित करते हैं। 'कर्मावबोध' शब्द का अर्थ कर्मकाण्ड का परिज्ञान अर्थात् पूर्वमीमांसाशास्त्र का अध्ययन है। इसलिये पूर्वमीमासाशास्त्र के अध्ययन के बाद ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये यह कर्मावबोधपक्ष का अभिप्राय हुआ। किन्तु भाष्यकार इस बात से सहमत नहीं है। वे ब्रह्ममीमासा के पूर्व धर्ममीमासा को अनिवार्य नहीं मानते। उनके मत मे धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा के बीच ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं है कि धर्मजिज्ञासा के बाद ही ब्रह्मजिज्ञासा की जाय। इस बात का विवेचन भाष्यकार ने अगली पंक्तियों मे बहुत विस्तार के साथ किया है। पहले वे 'कर्मावबोध' पक्ष को पूर्वपक्ष के रूप मे प्रस्तुत करके उसका सामान्य उत्तर निम्न प्रकार से देते है :—

पूर्वपक्ष :—अच्छा तो यहाँ [अर्थात् ब्रह्मजिज्ञासाशास्त्र मे] कर्मावबोध [अर्थात् कर्मकाण्ड का ज्ञान अर्थात् पूर्वमीमासाशास्त्र के अध्ययन] का आनन्तर्य-विशेष हेतु है [अर्थात् धर्मजिज्ञासाशास्त्र के अध्ययन के बाद ब्रह्मजिज्ञासाशास्त्र की प्रवृत्ति होती है इसलिए कर्मावबोध अर्थात् कर्मकाण्ड का परिज्ञान ब्रह्मजिज्ञासाशास्त्र की प्रवृत्ति का विशेष हेतु है। यह पूर्वपक्ष का आशय हुआ। इसका उत्तर भाष्यकार अगली पंक्ति मे देते है] :—

उत्तरपक्ष :—[कर्मावबोधके अनन्तर ही ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये]

यह बात भी ठीक नहीं है क्योंकि [धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा इन दोनो के बीच] क्रम विवक्षित नहीं है [अर्थात् धर्मजिज्ञासा के बाद ही ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये ऐसा कोई नियम नहीं है] क्योंकि [वेदान्त अर्थात्] उपनिषदो को पढ़ने वाले को धर्मजिज्ञासा के पूर्व भी ब्रह्मजिज्ञासा [अर्थात् ईश्वर-सम्बन्धी विचार की इच्छा] हो सकती है।

धर्मजिज्ञासा के बाद अर्थात् कर्मावबोध के अनन्तर ही ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये यह जो बात पूर्वपक्ष की ओर से प्रस्तुत को गई थी उसका खण्डन भाष्यकार ने ऊपर की पक्तियो मे कर दिया है। उस खण्डन मे भाष्यकार की युक्ति यह है कि धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा के बीच ऐसा कोई क्रम विवक्षित नहीं है कि ब्रह्मजिज्ञासा के पहले धर्मजिज्ञासा अवश्य की जाय क्योंकि उपनिषदो का अध्ययन करने वाले धर्मजिज्ञासा के पहले भी ब्रह्मजिज्ञासा कर सकते है। अब आगे भाष्यकार विशेष रूप से पूर्वमीमासादर्शन की पद्धति का अवलम्बन करके यह दिखलायेंगे कि इन दोनो के बीच क्रम विवक्षित क्यो नहीं है। पूर्वमीमांसा की प्रक्रिया मे क्रम की आवश्यकता दो स्थलों पर पड़ती है। एक 'शेषशेषीभाव' स्थल मे और दूसरी 'अधिकृताधिकारभाव' स्थल मे। शेषशेषिभाव का अभिप्राय अङ्ग-अङ्गीभाव है। पहले अगो की स्थिति हो जाने के बाद तब अंगी की स्थिति होती है। जैसे खाट अगी है, पाये-पाटी और बान उसके अग हैं। पहले अंग अर्थात् पाये, पाटी, बान आदि अग उपस्थित हो जायेंगे तभी उनको मिलाकर खाट की रचना हो सकती है इसलिये अगाङ्गीभावस्थल मे क्रम आवश्यक होता है। इसी प्रकार कर्मकाण्ड मे दर्शपौर्णमास एक विशेष याग है जिसका अनुष्ठान अमावस्या तथा पूर्णिमा तिथियों मे मिलाकर होता है। उस याग के प्रयाज आदि अनेक अगो का विधान किया गया है। जब उन सब अगो का अनुष्ठान पूर्ण हो जाता है तभी दर्शपौर्णमास का अनुष्ठान पूर्ण होता है। यहाँ दर्शपौर्णमास अङ्गी है। प्रयाज आदि इसके अग है। अगों के अनुष्ठान के बिना अङ्गी का अनुष्ठान पूर्ण नहीं होता। इसलिये प्रयाजादि अग और दर्शपौर्णमास अगी इन दोनो के बीच क्रम विवक्षित है। पहले अंगो का अनुष्ठान होगा उसके बाद अगी का अनुष्ठान सम्भव होगा। यह 'शेषशेषिभाव' का अभिप्राय है।

दूसरा स्थल जहाँ क्रम विवक्षित होता है वह है 'अधिकृताधिकारभाव'। अधिकृताधिकारभाव का अभिप्राय लौकिक उदाहरण मे इस प्रकार समझना चाहिये कि जिसने मध्यमा परीक्षा उत्तीर्ण कर ली है वही शास्त्री परीक्षा मे बैठने का अधिकारी है। जिसने शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण कर ली है वही आचार्य परीक्षा मे बैठने का अधिकारी है। यहाँ मध्यमा तथा शास्त्री परीक्षा के बीच और

शास्त्री तथा आचार्य परीक्षा के बीच मे अधिकृताधिकारभाव-सम्बन्ध है। शास्त्री परीक्षा मे अधिकृत व्यक्ति को ही आचार्य परीक्षा मे बैठने का अधिकार है। यह लौकिक उदाहरण मे अधिकृताधिकारभाव-सम्बन्ध का अभिप्राय हुआ। इसी प्रकार कर्मकाण्ड मे वेदाधिकार और यज्ञाधिकार आदि-स्थलो मे अधिकृताधिकारभाव-सम्बन्ध है। जहाँ अधिकृताधिकारभाव-सम्बन्ध होता है वहां उस क्रम का निर्वाह आवश्यक होता है।

इस प्रकार हमने देखा कि पूर्वमीमासा की प्रक्रिया के अनुसार क्रम की विवक्षा दो जगह होती है। एक शेषशेषिभावस्थल मे और दूसरी अधिकृताधिकारभावस्थल मे। पूर्वमीमासा अर्थात् धर्मजिज्ञासा तथा उत्तरमीमांसा अर्थात् वेदान्त के बीच न तो शेषशेषिभाव-सम्बन्ध है और न अधिकृताधिकारभाव-सम्बन्ध है इसलिये वहा क्रम भी विवक्षित नहीं है। अर्थात् धर्मजिज्ञासाके बाद ही ब्रह्मजिज्ञासा की जाय यह आवश्यक नहीं है। यही बात भाष्यकारने ऊपर 'क्रमस्य अविवक्षितत्वात्' के द्वारा सूचित की है ओर इसी को अगली पक्ति मे 'शेषशेषित्वेऽधिकृताधिकारे वा प्रमाणाभावात्' इत्यादि पंक्ति द्वारा स्पष्ट करेंगे। शेषशेषिभाव या अधिकृताधिकारभावमे क्रम विवक्षित होता है इस बात को दिखलाने के लिये भाष्यकारने पूर्वमीमांसा की प्रक्रिया के अनुसार 'हृदयाद्यवदानानाम्' इत्यादि उदाहरण प्रस्तुत किया है। यह पंक्ति 'हृदयस्य अग्रे अवद्यति, अथ जिह्वाया, अथ वक्षस' इत्यादि किसी पशुयाग मे आये हुये वचन से सम्बन्ध रखती है। इस पक्ति मे आया हुआ 'अवदान' शब्द और ब्राह्मण वाक्य मे आया हुआ 'अवद्यति' शब्द दोनों 'दो अवखण्डने' धातु से बने है। उनका अर्थ है खण्डन करना, काटना। मध्यकालीन लोग यज्ञ मे पशुहिंसा मानते थे। उनमे पशुके विविध अंगो के काटने का वर्णन 'हृदयस्य अग्रे अवद्यति, अथ जिह्वाया, अथ वक्षसः' इत्यादि वचन द्वारा किया गया है। ये सब हृदयादि अवदान अंग है या शेष हैं और याग अंगी या शेषी है। इसलिये याग की दृष्टि से हृदयाद्यवदान और पशुयाग मे शेषशेषिभाव-सम्बन्ध है। इस लिये यहां क्रम विवक्षित है। अर्थात् पहले हृदय का अवदान, फिर जिह्वाग्रका अवदान, फिर वक्षस्थल का अवदान करना होता है। यह 'शेषशेषिभाव' की दृष्टि मे इसकी व्याख्या हुई। यही उदाहरण अधिकृताधिकारभाव का भी हो सकता है। 'जैसे मध्यमपरीक्षा ददाति' अथ शास्त्रिपरीक्षा ददाति, अथ आचार्यपरीक्षा ददाति' यहा मध्यमपरीक्षा उत्तीर्ण का ही शास्त्री परीक्षा मे अधिकार होने से अधिकृताधिकारभावसम्बन्ध बनता है। इसी प्रकार 'हृदयस्याग्रेऽवद्यति, अथ जिह्वया, अथ वक्षसः' इत्यादि वाक्य मे अधिकृताधिकारभाव-सम्बन्ध होने से क्रम विवक्षित है और अथ शब्द आनन्तर्यार्थक है। अतएव

यथा च हृदयाद्यवदानानामानन्तर्यनियमः क्रमस्य विवक्षितत्वान्न तथेह क्रमो विवक्षितः, शेषशेषित्वेऽधिकृताऽधिकारे वा प्रमाणाभावात्,

धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः फलजिज्ञास्यभेदाच्च। अभ्युदयफलं

क्रम से ही एक के बाद दूसरा कर्म करना होता है और पूर्वमीमासा अर्थात् धर्मजिज्ञासा और उत्तरमीमासा [वेदान्त] अर्थात् ब्रह्मजिज्ञासा के बीच न शेषशेषिभाव-सम्बन्ध है, न अधिकृताधिकारभाव-सम्बन्ध है। इसलिये 'कर्मावबोध के अनन्तर अर्थात् पूर्वमीमांसाके अध्ययन के बाद ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये यह पक्ष भी नहीं बनता है। इसी बातको भाष्यकार अगली पक्ति मे निम्न प्रकार से प्रस्तुत करते हैं:—

जैसे कि [कर्मकाण्ड मे पशुयाग के प्रसंग मे आये हुये हृदयस्याग्रेऽवद्यति अथ जिह्वाया अथ वक्षस 'इत्यादि उदाहरण मे] हृदयादि के अवदान [अर्थात् काटने] मे आनन्तर्य का नियम है। [अर्थात् इसी क्रम से एक के बाद दूसरे अग का अवदान किया जाता है] इस प्रकार का क्रम यहा [पूर्वमीमांसा या धर्मजिज्ञासा और वेदान्त अर्थात् ब्रह्मजिज्ञासा मे] विवक्षित नहीं है क्योकि [धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा के बीच] शेषशेषिभाव [अगागि भाव] अथवा अधिकृताधिकारभाव मानने का कोई आधार [या प्रमाण] नहीं है।

इस प्रकार भाष्यकार ने धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा मे क्रम विवक्षित नहीं है, इस बात के प्रतिपादन के लिये 'शेषशेषित्वे अधिकृताधिकारभावे वा प्रमाणाभावात्' यह एक हेतु ऊपर उपस्थित किया है। इसी बात को सिद्ध करने के लिये वे दो युक्तियाँ और आगे देते हैं। उनमे से पहली युक्ति है 'धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः फलजिज्ञासभेदात्' इसका अभिप्राय यह हुआ है कि धर्मजिज्ञासा [पूर्व मीमासा] तथा ब्रह्मजिज्ञासा [वेदान्त] इन दोनो के फल भी भिन्न है और जिज्ञास्य विषय भी भिन्न है। इसलिये भी इन दोनो मे न शेषशेषिभाव बनता है, न अधिकृताधिकारभाव बनता है और न क्रम विवक्षित है। इसी बातको भाष्यकार अगली पक्ति मे निम्नप्रकार प्रस्तुत करते हैं:—

धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा दोनो के फलो मे भी भेद होने से और जिज्ञास्य विषय के भी भिन्न होने से [उनमे क्रम विवक्षित नहीं है इसी फलभेद और जिज्ञास्यविषय के भेद को दिखलाते हुये भाष्यकार लिखते है कि] धर्मज्ञान [अर्थात् पूर्वमीमासा] का फल 'अभ्युदय' अर्थात् लौकिक या पारलौकिक स्वर्गादिरूप समृद्धावस्था की प्राप्ति] है और वह [अभ्युदयरूपफल] अनुष्ठान की

धर्मज्ञानं तच्चानुष्ठानापेक्षम् । निःश्रेयसफलं तु ब्रह्मविज्ञानं न चानुष्ठानान्तरापेक्षम् । भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यो न ज्ञानकालेऽस्ति, पुरुषव्यापारतन्त्रत्वात्, इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं नित्यत्वान्न पुरुषव्यापारतन्त्रम् ।

अपेक्षा रखता है [अर्थात् केवल पूर्वमीमासा के पढ़ लेने से अभ्युदय को प्राप्ति नहीं होती अपितु उसकी प्राप्ति के लिये विविध प्रकार के विहितकर्मों का अनुष्ठान करना आवश्यक होता है इसके विपरीत] ब्रह्मज्ञान का फल नि श्रेयस [अर्थात् मोक्ष] की प्राप्ति है और उसके लिये [ब्रह्मज्ञान के अतिरिक्त या ईश्वरसाक्षात्कार के बाद] किसी दूसरे [कर्म का] अनुष्ठान करने की आवश्यकता नहीं होती है [यह धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा के फलो मे भेद दिखलाया अब आगे उन दानो के जिज्ञास्यविषय का भेद दिखलाते है पूर्वमीमासा म] भव्य [अर्थात् कर्मानुष्टान के बाद उत्पन्न होने वाला] धर्मजिज्ञास्य [विषय] है और वह [धर्म पूर्वमीमासा के पढते समय उसके] ज्ञानकाळ मे विद्यमान नहीं है। और यहा [अर्थात् वेदान्तदर्शन मे] भूत [अर्थात् उत्पन्न होने वाला नहीं अपि तु नित्य सिद्ध ब्रह्म अर्थात्] ईश्वर जिज्ञास्यविषय होता है [इस प्रकार धर्ममीमासा का जिज्ञास्यविषय भव्य अर्थात् कर्मानुष्ठान के बाद उत्पन्न होने वाला है और वेदान्त का जिज्ञास्यविषय ब्रह्म 'भूत' अर्थात् नित्यसिद्ध—उत्पन्न न होने वाला—है । इस प्रकार इन दोनो शास्त्रो के फलो तथा विपयो के नितान्त भिन्न होने के कारण उन दोनो मे न शेषशेषिभाव सम्बन्ध हो सकता है, न अधिकृताधिकारभाव सम्बन्ध हो सकता है और न क्रम विवक्षित है]

यहाँ तक भाष्यकार ने धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा के बीच क्रमविवक्षित नहीं है इसलिये 'कर्मावबोध' के अनन्तर 'ब्रह्मजिज्ञासा' करनी चाहिये यह पक्ष नहीं बनता है । इस बात को सिद्ध करने के लिये दो हेतु दिये । अब इसी विषय मे तीसरा हेतु देते है 'चोदना प्रवृत्तिभेदाच्च' । यहा 'चोदना' शब्द का अर्थ है प्रेरणा देने वाला विधिवाक्य । धर्ममीमासा और ब्रह्ममीमासा दोनो मे मनुष्य को प्रवृत्त करने वाले विधिवाक्य क्रमशः ब्राह्मण तथा उपनिषद् ग्रन्थों मे पाये जाते है। इन दोनो प्रकार के विधिवाक्यो की प्रवर्तकता भिन्न प्रकार की है। कर्मकाण्ड मे आये हुये 'स्वर्गकाम यजेत्' इत्यादि अधिकारी व्यक्ति को याग स्वर्गप्राप्ति का साधन है इस बात का बोध भी कराते है और याग के अनुष्ठान में उसको प्रवृत्त भी करते हैं क्योकि याग के अनुष्ठान के बिना स्वर्ग की प्राप्ति सम्भव नहीं है किन्तु 'ब्रह्मचोदना' अर्थात् ब्रह्मज्ञानपरक विधिवाक्य केवल ब्रह्मज्ञान कराते है। केवल

चोदना प्रवृत्तिभेदाच्च । या हि चोदना धर्मस्य लक्षणं सा स्वविषये नियुञ्जानैव पुरुषमवबोधयति, ब्रह्मचोदना तु पुरुषमवबोधयत्येव केवलम्, अवबोधस्य चोदनाऽजन्यत्वान्न पुरुषोऽवबोधे नियुज्यते ।

ब्रह्मज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है उसके लिये फिर किसी कर्म के अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं रहती है इसलिये 'ब्रह्मचोदना' केवल बोध कराती है, पुरुष को कर्म मे नियुक्त नहीं करती । और 'धर्मचोदना' पुरुष को धर्म का बोध कराने के अतिरिक्त कर्म मे प्रवृत्त भी करती है । यह इन दोनों शास्त्रो के विधिपरक वाक्यों की प्रवृत्ति मे भेद है इसलिये भी उनने क्रम विवक्षित नहीं है । इसी बात को भाष्यकार निम्न प्रकार लिखते है'—

[धर्मजिज्ञासा तथा ब्रह्मजिज्ञासा इन दोनों के 'चोदना' अर्थात्] विधिपरक वाक्यो की प्रवृत्ति मे भेद होने से भी [उन दोनो मे क्रम विवक्षित नहीं है इसी को खोलकर आगे कहते है] जो धर्मविषयक विधिवाक्य है वे अपने विषय मे [अर्थात् कर्मानुष्ठान मे] मनुष्य को प्रवृत्त करते हुये ही धर्म का ज्ञान कराते है किन्तु ब्रह्मज्ञानपरक विधिवाक्य केवल ब्रह्म का ज्ञान कराते है पुरुष को उसमे नियुक्त नहीं करते जैसे इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष के द्वारा अर्थ का ज्ञान होता है [पुरुष को उसमे प्रवृत्त नहीं कराया जाता] उसी के समान [ब्रह्मचोदना अर्थात् ब्रह्मपरक विधिवाक्य, अर्थात् शब्द प्रमाण से भी ब्रह्म का साक्षात्कारात्मक ज्ञान हो जाता है पुरुष को उसमे नियुक्त करने की आवश्यकता नहीं होती है ।] क्योकि ब्रह्मज्ञान [तत्त्वमसि आदि] वाक्यों द्वारा उत्पन्न हो जाता हैं [उसके लिये किसी कर्मानुष्ठान की आवश्यकता नहीं होती है इसलिये विधि वाक्यों की प्रवृति मे भेद होने के कारण भी धर्मजिज्ञासा मे क्रम विवक्षित नहीं है ।]

इस पंक्ति मे अवबोधस्य 'चोदना जन्यत्वात्' यह पाठ बड़ा सन्दिग्ध है। कुछ लोग यहाँ 'चोदना अजन्यत्वात्' ऐसा पदच्छेद करते है, पर हमने 'चोदना जयन्यत्वात्' पाठ मानकर यह व्याख्या की है । 'अवबोध' अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार चोदनाजन्य अर्थात् विधिवाक्य द्वारा उत्पन्न हो सकता है यह इसका अभिप्राय है । सामान्यतः साक्षात्कारात्मक ज्ञान केवल प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा उत्पन्न हो सकता है । ऐसा माना जाता हैं । अनुमान और शब्दादि अन्य किसी भी प्रमाण से उत्पन्न ज्ञान साक्षात्कारात्मक या अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता अपितु परोक्षज्ञान होता है । किन्तु वेदान्त मे शब्द प्रमाण से भी अपरोक्ष साक्षात्कारात्मक ज्ञान उत्पन्न हो सकता है, ऐसा माना जाता है । उसके लिये 'दशमस्त्वमसि'

इत्यादि वाक्य उदाहरण रूप मे प्रस्तुत किया जाता है। किसी ग्राम के दस व्यक्ति, इकट्ठे किसी मेला आदि मे गये। जब भीड़ से निकल कर वे लोग चलने लगे तो उन्होने देखना चाहा कि हम दसो लोग आगये है, कोई रह तो नहीं गया। इस दृष्टि से एक आदमी ने जो उनका नेता था दसो आदमियों की गिनती प्रारम्भ की पर आदमियो की सख्या नौ ही निकलती थी, दसवाँ आदमी उसे नहीं मिल रहा था। वह बार-बार गिनता था पर नौ आदमी ही पाकर परेशान हो रहा था कि कौन रह गया। पर इस गिनती मे वह हर बार अपने को छोड़ जाता था इसलिये सख्या दस के स्थान पर नौ रह जाती थी। अब उसकी परेशानी को देखकर किसी बुद्धिमान व्यक्ति ने कहा कि अच्छा, अब की फिर से गिनो। जब वह नौ तक गिन कर आया तब उस बुद्धिमान पुरुष ने उससे कहा 'दशमस्त्वमसि' दसवे आदमी तुम हो, सख्या पूरी तो हो गई। यहाँ 'दशमस्त्वमसि' इस वाक्य के द्वारा उसे जो अपना ज्ञान हुआ है वह परोक्ष नहीं अपरोक्ष या साक्षात्कारात्मक ज्ञान है। इसलिये वेदान्ती लोग यह मानते है कि शब्दों के प्रमाण के द्वारा भी साक्षात्कारात्मक अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न हो सकता है। इसी उदाहरण के आधार पर वे 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यो द्वारा अपरोक्ष साक्षात्कारात्मक ज्ञान मानते हैं 'अवबोधस्य चोदनाजन्यत्वात' इत्यादि पंक्ति भाष्यकार ने इसी आधार पर लिखी है। इसलिये उसमे 'चोदना अजन्यत्वात्' ऐसा पदच्छेद करने की आवश्यकता नहीं है।

साधन चतुष्टय सम्पत्ति का आनन्तर्य [सिद्धान्त पक्ष] :—

यहाँ तक अथ शब्द की व्याख्या चल रही है। 'अथ' शब्द को भाष्यकार ने आनन्तर्यार्थक माना है। तब किसके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हुआ था। पहले भाष्यकार ने इस प्रश्न के दो उत्तर पूर्वपक्ष के रूप मे प्रस्तुत कर उनका खण्डन किया। उनमे से एक स्वाध्यायानन्तर्यवाला पक्ष था और दूसरा 'कर्मावबोधानन्तर्यवाला' पक्ष ये दोनो पक्ष ठीक नहीं हैं, यह बात यहाँ तक सिद्ध कर दी गई। अब सिद्धान्तपक्ष की ओर से उसका उत्तर आगे देते हैं—इसका आशय यह है कि एक नित्यानित्य वस्तु विवेक (२) इहामुत्रफलभोगविराग (३) शमादिषट्क सम्पत्ति [अर्थात् शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, और समाधान इन छह की सिद्धि] तथा मुमुक्षुत्व [अर्थात् मोक्षेच्छा] की सिद्धि के बाद ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये इसी बातको भाष्यकार ने निम्न प्रकार लिखा है :—

यथा चार्थसंनिकर्षेणार्थावबोधे तद्वत् । तस्मात्किमपि वक्तव्यं यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासोपदिश्यत इति । उच्यते—नित्यानित्यवस्तुविवेकः इहामुत्रार्थभोगविरागः, शमदमादिसाधनसपंत् , मुमुक्षुत्वं च । तेषु हि सत्सु प्रागपि धर्मजिज्ञासाया ऊर्ध्वं च शक्यते ब्रह्म जिज्ञासितुं ज्ञातुं च न विपर्यये । तस्मादथशब्देन यथोक्तसाधनसंपत्त्यानन्तर्यमुपदिश्यते ।

अतः शब्दो हेत्वर्थः । यस्माद्वेद एवाग्निहोत्रादीनां श्रेयः-

प्रश्न—इसलिये कोई ऐसा हेतु बतलाइये कि जिसके बाद ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये ।

उत्तर—बतलाते है कि एक नित्यानित्यवस्तुविवेक [नित्यवस्तु अर्थात् ईश्वर या ब्रह्म और अनित्यवस्तु अर्थात् जगत् दोनो का विवेक अर्थात् भेदज्ञान] (२) इहामुत्रफल भोगविराग [ऐहिकफल अर्थात् सासारिक सुखभोग और आमुष्मिकफल अर्थात् स्वर्गादि दोनो के प्रति वैराग्य] (३) शमादि षट्क सम्पत्ति [शम, अर्थात् बाह्य इन्द्रियो का निग्रह, दम अर्थात् मन का निग्रह, उपरति अर्थात् सासारिक व्यापारो से विरत होना, तितिक्षा अर्थात् भूख प्यास, शीतोष्ण, सुखदुःखादि द्वन्द्वों की सहिष्णुता, श्रद्धा अर्थात् गुरूपदिष्ट वाक्यों मे विश्वास तथा समाधान अर्थात् समाधि या मन की एकाग्रता इन छह की सिद्धि 'शमादि षट्क सम्पत्ति' कहलाती है] (४) मुमुक्षुत्व [अर्थात् मोक्षेच्छा की उत्पत्ति के बाद ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये यह अथ शब्द का अर्थ हुआ] इनके होने पर धर्मजिज्ञासा के पहले भी और बाद मे भी ब्रह्मजिज्ञासा हो सकती है और ब्रह्म अर्थात् ईश्वर का ज्ञान भी हो सकता है । इसके विपरीत [अर्थात् साधन चतुष्टय सम्पत्ति के बिना] नहीं । इसलिये 'अथ' शब्द उपर्युक्त साधन चतुष्टय सम्पत्ति के आनन्तर्य का बोधक है [अर्थात् साधन चतुष्टय की सम्पत्ति के बाद ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये यह अथ शब्द का अर्थ हुआ । यही भाष्यकार का सिद्धान्त पक्ष है]

'अतः' शब्द की व्याख्या :—यहा तक भाष्यकार ने अथ शब्द की व्याख्या समाप्त की । अब आगे वे सूत्र में आये हुये दूसरे 'अतः' शब्द की व्याख्या करते हुये लिखते हैं :—

'अतः' शब्द हेत्वर्थक है क्योंकि वेद ही अग्निहोत्रादि स्वर्ग साधनो के फल

साधनानामनित्यफलतां दर्शयति—'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते (छान्दो० ८।१।६) इत्यादिः। तथा ब्रह्मविज्ञानादपि परं पुरुषार्थं दर्शयति—'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यादिः (तैत्ति० २।१)। तस्माद्यथोक्तसाधनसंपत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्त्तव्या।

ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा। ब्रह्म च वक्ष्यमाणलक्षणं 'जन्माद्यस्य यतः' इति। अत एव न ब्रह्मशब्दस्य जात्याद्यर्थान्तरमाशङ्कितव्यम्।

की अनित्यता सूचित करता है जैसा कि [छान्दोग्योनिषद् ८।१।६] के निम्न-वाक्य मे कहा गया है कि—"जैसे यहाँ [इस ससार मे] कर्मों द्वारा प्राप्त लोक अर्थात् जन्म का नाश होता है इसी प्रकार परलोक मे पुण्य द्वारा सचित [स्वर्गादिरूप] लोक का भी नाश होता है [छान्दोग्य उपनिषद् के इस वचन मे 'अमुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' इस वाक्य के द्वारा अग्निहोत्रादि रूप कर्मकाण्ड के फलभूत स्वर्गादि की अनित्यता या विनाश को सूचित किया गया है। इसके विपरीत] ब्रह्मज्ञान के द्वारा परम पुरुषार्थ [अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति को सूचित करता है जैसा कि [तैत्तरीयोपनिषद् २।१ के 'ब्रह्मविदाप्नोति परम'] ब्रह्मज्ञानी परम पुरुषार्थ [मोक्ष] को प्राप्त करता है। इसलिये पूर्वोक्त साधनचतुष्टय [(१) नित्यानित्यवस्तुविवेक (२) इहामुत्रफलभोगविराग (३) शमादिषट्क् सम्पत्ति और (४) मुमुक्षुत्व] की सिद्धि के बाद ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये [यह अतः शब्द का अर्थ हुआ]

ब्रह्मजिज्ञासा पद की व्याख्या :—

इस प्रकार सूत्र के 'अथ' और 'अत' शब्दो की व्याख्या समाप्त करने के बाद भाष्यकार आगे सूत्र के तीसरे 'ब्रह्मजिज्ञासा' पद की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं। 'ब्रह्मजिज्ञासा' पद समस्त समासयुक्त पद है इसलिये पहले उस षष्ठी-तत्पुरुष समास का 'ब्रह्मणोजिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा' इस प्रकार का विग्रह दिखला कर फिर 'ब्रह्म' और 'जिज्ञासा' पदो की व्याख्या करते हुये वे लिखते है —

[ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा] ब्रह्म [अर्थात् ईश्वर] जिज्ञासा [अर्थात् विचार। जिज्ञासा पद लक्षणा द्वारा 'विचार' अर्थ का बोधन करता है यह ब्रह्म-जिज्ञासा पद का विग्रह हुआ] और ब्रह्म का लक्षण आगे 'जन्माद्यस्य यत' सूत्र मे किया जायेगा अर्थात् जिससे इस जगत् का जन्मादि अर्थात् उत्पत्ति,

स्थिति और प्रलय होता है उस ईश्वर को सबसे बृहत्, सर्वव्यापक और नित्य होने मे 'ब्रह्म' कहा जाता है। इसलिये 'ब्रह्म' शब्द [ब्राह्मण आदि किसी] जाति आदि का वाचक है ऐसी शका नहीं करनी चाहिये।

कर्मषष्ठी और शेषषष्ठी का विवाद :—

यहाँ तक भाष्यकार ने सूत्र के तीनो पदो की व्याख्या की। अब वे 'ब्रह्म-जिज्ञासा' पद मे आई हुई 'ब्रह्मण जिज्ञासा' इस षष्ठी विभक्ति की व्याख्या करते हैं। षष्ठी विभक्ति का विधान 'कर्तृकर्मणो कृति' २।३।६५, 'उभय-प्राप्तौ कर्मणि' २।३।६६ तथा 'षष्ठी शेषे' २।३।५० सूत्रों के द्वारा किया जाता है। पहले दो सूत्रों का अभिप्राय यह है कि कृदन्त पद के योग मे कर्त्ता मे भी षष्ठी हो सकती है ओर कर्म मे भी। किन्तु जहाँ दोनों मे युगपत् षष्ठी, प्राप्त हो वहाँ कर्म मे षष्ठी, करनी चाहियें। यहाँ जिज्ञासा पद के योग मे 'ब्रह्मण' पद मे जो षष्ठी, विभक्ति हुई है वह कर्म मे षष्ठी मानी जानी चाहिये यह एक पक्ष है और वही भाष्यकार का सिद्धान्तपक्ष है। दूसरी ओर 'षष्ठी शेषे' २।३।५० यह सूत्र भी शेष अर्थात् पूर्वकथित सम्बन्धों से भिन्न सामान्य सम्बन्ध के बोधन मे षष्ठी विभक्ति का विधान करता है। यह 'शेष षष्ठी' कहलाती है। भाष्यकार के पूर्ववर्ती किन्हीं व्याख्याकार ने 'ब्रह्मण' पद मे शेषषष्ठी मानी थी किन्तु ये व्याख्याकार वृत्तिकार बोधायन या उपवर्ष से भिन्न अन्य ही व्याख्याकार प्रतीत होते हैं। बोधायन की वृत्ति इस समय नहीं मिलती है। उपवर्ष के द्वारा उसका जो संक्षेप किया गया था वह भी अब तक उप-लब्ध नहीं हुआ है और जिन व्याख्याकार ने शेषषष्ठी मानकर इस सूत्र की व्याख्या की थी उनका व्याख्याग्रन्थ भी इस समय उपलब्ध नहीं हो रहा है, केवल भाष्यग्रन्थों मे उनकी चर्चा पाई जाती है। भाष्यकार के पहले वेदान्त-सूत्रो पर 'बोधायन' आचार्य ने कोई वृत्ति लिखी थी। यह वृत्ति इस समय उपलब्ध नहीं होती है। श्री रामानुजाचार्य ने भी भाष्यकार के बाद वेदान्त-सूत्रों पर अपने सिद्धान्त के अनुसार भाष्य लिखा है। उनके समय में भी बोधायन वृत्ति उपलब्ध नहीं थी किन्तु उनके पूर्व "अतिविस्तीर्णां बोधायन-वृत्तिं सचिक्षिपु पूर्वे आचार्या" उपवर्ष नामक किन्हीं आचार्य ने अत्यन्त विस्तीर्ण बोधायन वृत्ति का संक्षिप्त संस्करण प्रस्तुत किया था। इसी "पूर्वाचार्य-सुरक्षिताम्" बोधायन वृत्ति के आधार पर श्री रामानुजाचार्य ने अपने भाष्य की रचना की थी। उसमें उन्होने 'बोधायन' वृत्ति को ही अपने भाष्य का आधार बतलाया है। इस वृत्ति में वृत्तिकार ने भी ब्रह्मजिज्ञासा पद मे 'कर्म-षष्ठी' ही मानी थी। भाष्यकार भी उसी से सहमत हैं। उनका कहना है कि यहाँ

ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी न शेषे, जिज्ञास्यापेक्षत्वाज्जिज्ञासायाः, जिज्ञास्यान्तरानिर्देशाच्च ।

'शेषपष्ठी' न मानकर 'कर्मषष्ठी' माननी चाहिये अर्थात् यहाँ किन्हीं व्याख्याकारो के अनुसार 'शेषे' ४।२।९२ सूत्र से जो षष्ठी मानी गई है वह ठीक नहीं है। उसके स्थान पर कर्म षष्ठी माननी चाहिये। इसी बात को उन्होंने भाष्य मे 'ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी न शेषे' इन शब्दो के द्वारा व्यक्त किया है। कर्मषष्ठी मानने के पक्ष मे उनकी युक्ति यह है कि 'जिज्ञासा' पद को कर्म की अपेक्षा है। अर्थात् 'जिज्ञासा' पद को सुनकर यह प्रश्न सामने आता है कि किसकी जिज्ञासा? जिसकी जिज्ञासा की जाय वही जिज्ञासा का 'कर्म' [कर्मकारक] हुआ। जिज्ञासा पद को कर्म की अपेक्षा है और ब्रह्मण के अतिरिक्त यहाँ ऐसा कोई पद नहीं है जिसके साथ 'जिज्ञासा' पद का 'कर्म' रूप मे अन्वय किया जा सके अत 'ब्रह्म' पद ही जिज्ञासा का 'कर्म' [कर्मकारक] है। उसी की जिज्ञासा की गई है। इसी आधार पर भाष्यकार का कहना है कि यहाँ 'कर्मषष्ठी' माननी चाहिये 'शेषषष्ठी' नहीं। इसी बात को उन्होने सिद्धान्त रूप मे निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया है—

ब्रह्मण जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा, इस विग्रहवाक्य मे 'ब्रह्मण' यह कर्मषष्ठी है शेषषष्ठी नहीं क्योकि जिज्ञासा को जिज्ञास्य विषय [अर्थात् जिज्ञासा के कर्म] की अपेक्षा है और [ब्रह्म से भिन्न] अन्य किसी 'कर्म' [कर्मकारक] का निर्देश यहाँ नहीं पाया जाता [इसलिये ब्रह्मण. इस षष्ठी को कर्मषष्ठी मानना चाहिये यह भाष्यकार का सिद्धान्त पक्ष हुआ।]

शेषषष्ठीवादी पूर्वपक्ष :—ऊपर कहा जा चुका है कि 'किन्हीं व्याख्याकार ने यहाँ 'कर्मषष्ठी' न मानकर 'शेषषष्ठी' मानी है। शेषषष्ठी का अर्थ होता है सम्बन्ध सामान्य मे षष्ठी। वह कर्त्ता मे भी हो सकती है और कर्म मे भी। क्योकि सम्बन्ध सामान्य के अन्तर्गत सभी प्रकार के सम्बन्ध आ जाते हैं। इसलिये यहाँ शेषषष्ठी मान कर भी उसका उपसंहार कर्मषष्ठी मे हो सकता है अत· कर्मषष्ठी मानने की आवश्यकता नहीं है। यह बात पूर्ववर्ती किन्हीं व्याख्याकार की ओर से कही जा सकती है किन्तु भाष्यकार की दृष्टि मे पूर्व व्याख्याकार की यह संगति उचित नहीं है। कर्मषष्ठी मानने मे ब्रह्म पद मे जिज्ञासा कर्मत्व का साक्षात् अन्वय हो जाता है और शेषषष्ठी मानकर फिर उसका कर्म मे उपसंहार करने से कर्मता परम्परागत परोक्ष रूप से आती है। प्रत्यक्षकर्मता को छोड़कर परोक्षकर्मता लाने का व्याख्याकार का

ननु शेषषष्ठीपरिग्रहेऽपि ब्रह्मणो जिज्ञासा कर्मत्वं न विरुध्यते, सम्बन्धसामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वात् ।

एवमपि प्रत्यक्षं ब्रह्मणः कर्मत्वमुत्सृज्य सामान्यद्वारेण परोक्षं कर्मत्वं कल्पयतो व्यर्थः प्रयासः स्यात् ।

जो प्रयास है वह व्यर्थ है। यह भाष्यकार का आशय है। इसी पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष को भाष्यकार ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

पूर्वपक्ष—अच्छा तो शेषषष्ठी मानने पर भी 'ब्रह्म' को जिज्ञासा का कर्म मानने मे कोई विरोध नहीं आता है क्योकि शेषषष्ठी मे निहित सम्बन्ध-सामान्य की समाप्ति भी किसी विशेष सम्बन्ध [यहाँ कर्म सम्बन्ध] मे होती है।

उत्तरपक्ष—[वृत्तिकार द्वारा दी गई इस युक्ति का खण्डन करते हुये भाष्यकार आगे लिखते है कि] इस प्रकार [अर्थात् पूर्व व्याख्याकार द्वारा दिखलायी हुई युक्ति से] ब्रह्म की प्रत्यक्षकर्मता को छोड़कर परोक्षकर्मता की कल्पना करने वाले पूर्व व्याख्याकार का यह प्रयास व्यर्थ है [अर्थात् शेष-षष्ठी न मानकर साक्षात् कर्मषष्ठी माननी चाहिये, यह भाष्यकार का सिद्धान्त-पक्ष है।]

भाष्यकार के इस उत्तर पर पूर्व व्याख्याकार की ओर से यह कहा जा सकता है कि यहाँ कर्मषष्ठी और शेषषष्ठी दोनो हो सकती हैं। पर कर्मषष्ठी के बजाय शेषषष्ठी मानना अधिक लाभदायक है। कर्मषष्ठी मानने मे सम्बन्ध का सकोच हो जाता है। उसका केवल कर्मरूप से विचार हो सकता है अन्य किसी रूप से नहीं। शेषषष्ठी मानने मे विचार का क्षेत्र व्यापक बन जाता है क्योकि 'शेष' का अर्थ है 'सम्बन्धसामान्य' और उस 'सम्बन्धसामान्य' मे कर्त्ता, कर्म, करण आदि सभी सम्बन्ध आ जाते है इसलिये ब्रह्म का सभी प्रकार का अशेष विचार 'शेषषष्ठी' पक्ष मे बन जाता है, 'कर्मषष्ठी' पक्ष मे नहीं बनता। इसलिये हम [पूर्ववर्त्ती व्याख्याकार] शेषषष्ठी मान कर उसका उपसहार कर्म करते हैं। अत हमारा प्रयास व्यर्थ नहीं, अत्यन्त लाभ-दायक है।

इस युक्ति का उत्तर देने के लिये भाष्यकार पहले पूर्वपक्ष को प्रस्तुत कर फिर इसका उत्तर देते हुये पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष दोनों को निम्न प्रकार से दिखलाते हैं :—

न व्यर्थः, ब्रह्माश्रिताशेषविचारप्रतिज्ञानार्थत्वात्। इति चेन्न, प्रधानपरिग्रहे तदपेक्षितानामर्थाक्षिप्तत्वात्। ब्रह्म हि ज्ञानेनाप्तुमिष्टतमत्वात्प्रधानम्। तस्मिन् प्रधाने जिज्ञासाकर्मणि परिगृहीते यैर्जिज्ञासितैर्विना ब्रह्म जिज्ञासितं न भवति तान्यर्थाक्षिप्तान्येवेति न पृथक्सूत्रयितव्यानि। यथा राजासौ गच्छतीत्युक्ते सपरिवारस्य राज्ञो गमनमुक्तं भवति तद्वत्।

श्रुत्यनुगमाच्च। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तैत्ति०

पूर्वपक्ष—[शेषषष्ठी मानकर उसका कर्म मे उपसंहार करने का पूर्व व्याख्याकार का प्रयास] व्यर्थ नहीं है क्योकि उसके द्वारा ब्रह्माश्रित सम्पूर्ण विचार की प्रतिज्ञा की गई है [कर्मषष्ठी पक्ष मे, केवल कर्मरूप मे ब्रह्म का विचार हो सकता है अन्य रूपो मे नहीं। इसलिये कर्मषष्ठी न मान कर शेषषष्ठी मानना अधिक लाभदायक है। यह पूर्व व्याख्याकार का पूर्वपक्ष हुआ। इसका उत्तर देते हुये भाष्यकार लिखते है कि]

उत्तरपक्ष—यदि [पूर्व व्याख्याकार की ओर से] यह कहा जाय तो वह ठीक नहीं है क्योंकि प्रधान का ग्रहण हो जाने पर उससे सम्बद्ध सबो का अर्थतः आक्षेप हो जाता है। उनको अलग कहने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। यहाँ ज्ञान के द्वारा प्राप्त करने मे ब्रह्म 'ईप्सिततम' है इसीलिये 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' १।४।४९ सूत्र के अनुसार वह प्रधान [कर्म] है। जिज्ञासा के कर्मभूत उस [ब्रह्म] का ग्रहण हो जाने पर जिनके जिज्ञासा [अर्थात् विचार] के बिना ब्रह्म की जिज्ञासा [विचार] नहीं बन सकती है उन सब का अर्थतः आक्षेप स्वयं ही हो जाता है। जैसे यह राजा जा रहा है ऐसा कहने पर परिवारादि सहित राजा का गमन [परिवार का नाम न लेने पर भी अर्थत. आक्षिप्त होकर] सूचित होता है। इसी प्रकार [यहाँ प्रधान ब्रह्म का ग्रहण होने पर जिनके बिना उसका विचार पूर्ण नहीं होता वे सब अर्थत· स्वयं ही आक्षिप्त हो जाते हैं। कर्मषष्ठी मानने मे भी ब्रह्माश्रित अशेष विचार हो सकता है उसके लिये शेषषष्ठी मानने की आवश्यकता नहीं है] ।

यहाँ तक भाष्यकार ने अपनी युक्तियों के आधार पर पूर्व व्याख्याकार के शेषषष्ठी पक्ष का खण्डन कर कर्मषष्ठी पक्ष का उपपादन किया है। अब वे कर्मषष्ठी पक्ष के समर्थन के लिये प्रबलतर प्रमाण श्रुति का आश्रय लेते है। उसके लिये वे 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्ति,

३।१) इत्याद्याः श्रुतयः, 'तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्म' इति प्रत्यक्षमेव ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं दर्शयन्ति। तच्च कर्मणि षष्ठीपरिग्रहे सूत्रेणानुगतं भवति। तस्माद्ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी।

ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा। अवगतिपर्यन्तं ज्ञानं सन्वाच्याया

अभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म' इत्यादि (तैत्तिरीय ३।१) इस वचन को प्रमाण रूप मे उपस्थित करते हैं इसमे 'तद्विजिज्ञासस्व' उसको जानो 'तद् ब्रह्म' वह ब्रह्म है इस रूप मे ब्रह्म को जिज्ञासा का साक्षात् रूप मे कर्म माना गया है इसलिये कर्मषष्ठी मानने मे इस श्रुतिवाक्य का अनुगमन भी होता है अतः कर्मषष्ठी मानना ही उचित है। इसी बात को भाष्यकार आगे निम्न प्रकार से लिखते हैं :—और [कर्मषष्ठी पक्ष मे] श्रुति का अनुसरण भी होने से [ब्रह्मणः यहाँ कर्मषष्ठी मानना ही उचित है] क्योंकि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' [तैत्तिरीय ३।१] इत्यादि श्रुतियाँ [उपनिषद्वाक्य] 'तद्विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्म' उसको जानो, वही ब्रह्म है इत्यादि रूप मे ब्रह्म को प्रत्यक्षतः जिज्ञासा का कर्म दिखलाती हैं। कर्मषष्ठी के मानने पर ही सूत्र उस [श्रुत्युक्त प्रत्यक्षकर्मता] का अनुगामी होता है, शेषषष्ठी मानने पर [सूत्र श्रुति का] अनुगामी नहीं होता। इसलिये [ब्रह्मजिज्ञासा पद मे] 'ब्रह्मणः' यह कर्मषष्ठी [मानना ही उचित] है [शेषषष्ठी मानना उचित नहीं है यह भाष्यकार का सिद्धान्त पक्ष हुआ]।

जिज्ञासा शब्द की व्याख्या—यहाँ तक भाष्यकार ने अथ, अतः, ब्रह्म और उसके आगे ब्रह्मणः पद मे आई हुई षष्ठी विभक्ति इन चार अर्थों को व्याख्या कर दी। अब आगे वे सूत्र के पाँचवे अंश 'जिज्ञासा' पद की व्याख्या करते है। जिज्ञासा पद ज्ञा धातु से सन् प्रत्यय करने पर बनता है। सन् प्रत्यय इच्छार्थक है। इसलिये ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा यह जिज्ञासा पद का अर्थ होता है। और उस ब्रह्मज्ञानविषयक इच्छा की पूर्णता या समाप्ति ब्रह्म अर्थात् ईश्वरविषयक साक्षात्कार मे होती है इसलिये यहाँ जिज्ञासा पद से 'अवगतिपर्यन्त ज्ञानम्' अर्थात् साक्षात्कारात्मक अनुभूति का ग्रहण होता है और उसका विषय या कर्म 'ब्रह्म' है। इसलिये ब्रह्म अर्थात् ईश्वर का साक्षात्कारात्मक ज्ञान प्राप्त करना चाहिये यह 'ब्रह्मजिज्ञासा' पद का अर्थ हुआ। इसी बात को भाष्यकार आगे निम्न प्रकार से लिखते हैं :—

जानने की इच्छा को 'जिज्ञासा' कहते हैं। साक्षात्कार पर्यन्त ज्ञान [जिज्ञासा पद मे आये हुये] 'सन्'-प्रत्यय द्वारा वाच्य इच्छा का कर्म अर्थात् विषय

इच्छायाः कर्म, फलविषयत्वादिच्छायाः। ज्ञानेन हि प्रमाणेनावगन्तुमिष्टं ब्रह्म। ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः, निःशेषसंसारबीजाविद्याद्यनर्थनिबर्हणात्। तस्माद्ब्रह्म विजिज्ञासितव्यम्।

तत्पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा स्यात्। यदि प्रसिद्धं न जिज्ञासितव्यम्। अथाऽप्रसिद्धं नैव शक्यं जिज्ञासितुमिति। उच्यते—अस्ति तावद्ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं, सर्वज्ञं, सर्वशक्तिसमन्वितम्। ब्रह्मशब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते, बृहतेर्धातोरर्थानुगमात्। सर्वस्या-

---

है क्योंकि इच्छा सदा फलविषयिणी होती है [यहाँ ब्रह्मावगति अर्थात् ईश्वर साक्षात्कार ही सन् प्रत्यय द्वारा सूचित इच्छा का फल है। ज्ञान रूप प्रमाण के द्वारा [अर्थात् ज्ञानात्मक बुद्धि वृत्ति के द्वारा] ब्रह्म की प्राप्ति इष्टतम है और ब्रह्म [अर्थात् ईश्वर] का साक्षात्कार ही परम पुरुषार्थ है क्योंकि उसके द्वारा ससार [जन्म-मरण] के बीजभूत अविद्यादि अनर्थ का नाश होता है। इसलिये [क्योंकि ब्रह्मज्ञान से ही ससार के बीजभूत अविद्यादि अनर्थ का नाश होता है] ब्रह्म [अर्थात् ईश्वर] की जिज्ञासा [साक्षाकारात्मक अनुभूति की इच्छा] करनी चाहिये।

ब्रह्मजिज्ञासा का उपपादन—

पूर्वपक्ष—यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि यह तो बतलाइये कि वह ब्रह्म [जिसकी जिज्ञासा करने को कह रहे है] प्रसिद्ध [अर्थात् लोक मे किसी को ज्ञात] है अथवा अप्रसिद्ध [अर्थात् लोक मे किसी को ज्ञात नहीं] है। यदि प्रसिद्ध है [अर्थात् लोक मे सामान्यरूप से सबको ज्ञात है] तो उसकी जिज्ञासा करना व्यर्थ है और यदि अप्रसिद्ध है [अर्थात् लोक मे कभी किसी को उसका ज्ञान होता ही नहीं है] तो भी उसका ज्ञान सम्भव न होने से जिज्ञासा व्यर्थ है।

उत्तरपक्ष—[लोक मे इतनी बात तो ज्ञात है कि] ब्रह्म (अर्थात् ईश्वर) नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है क्योंकि ब्रह्म शब्द की व्युत्पत्ति करने पर [बृहत्त्वाद्ब्रह्म] नित्यत्वादि ब्रह्म के गुण प्रतीत होते हैं [बृह वृद्धौ धातु से ब्रह्म शब्द बनता है] बृह धातु के अर्थ का समन्वय [नित्य सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक अर्थ मे ही हो सकता है क्योंकि जो नित्य है वही काल की दृष्टि से सबसे बड़ा हो सकता है। जो सर्वव्यापक

त्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः। सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयात्। आत्मा च ब्रह्म। यदि तर्हि लोके ब्रह्मात्मत्वेन प्रसिद्धमस्ति ततो ज्ञातमेवेत्यजिज्ञास्यत्वं पुनरापन्नम्। न, तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेः। देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता जना लौकायतिकाश्च प्रतिपन्नाः। इन्द्रियाण्येव चेतनान्यात्मेत्यपरे, मन इत्यन्ये। विज्ञानमात्रं क्षणिकमित्येके। शून्यमित्यपरे। अस्ति देहादिव्यतिरिक्तः

है वही देश की दृष्टि से सबसे बड़ा हो सकता है और जो सर्वज्ञ है वही ज्ञान की दृष्टि से सबसे बड़ा हो सकता है। इसलिये ब्रह्म शब्द के भीतर नित्यत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्त्व, सर्वव्यापकत्व आदि ब्रह्म अर्थात् ईश्वर के गुणो का सग्रह हो जाता है] और सबका आत्मभूत होने से उस ब्रह्म के अस्तित्व की प्रतीति होती है। क्योकि प्रत्येक व्यक्ति अपने अस्तित्व का अनुभव करता है। 'मै नहीं हूँ' ऐसा अनुभव नहीं करता है। यदि आत्मा की अनुभूति न हो तो प्रत्येक व्यक्ति को 'मैं नहीं हूँ' ऐसा ज्ञान होना चाहिये [पर ऐसा ज्ञान किसी को नहीं होता इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को अपने आत्मा के अस्तित्व की अनुभूति अवश्य होती है] और आत्मा ही ब्रह्म है [यह बात भाष्यकार जीवात्मा और ईश्वर दोनों का अभेद मानकर लिख रहे हैं। वास्तव मे इस प्रकार का लेख वर्त्तमान प्रश्न का उत्तर देने के लिये युक्तिसगत नहीं है] इसी बात को भाष्यकार आगे निम्न प्रकार से प्रस्तुत करते हैं।

पूर्वपक्ष—यदि [सबका आत्मभूत होने से ब्रह्म अर्थात् ईश्वर] प्रसिद्ध है तो उसकी जिज्ञासा फिर व्यर्थ हो जाती है [वह जिज्ञास्य नहीं रहता]।

उत्तरपक्ष—यह कहना भी ठीक नहीं [क्योंकि आत्मा अर्थात् जीवात्मा का सामान्य रूप से अस्तित्व ज्ञात होने पर भी] उसके विशेषस्वरूप मे मतभेद [विप्रतिपत्ति] पाया जाता है। क्योकि १. प्राकृत अर्थात् अज्ञानी मूर्ख तथा लोकायतिक अर्थात् चारवाक लोग चैतन्ययुक्त देह को आत्मा कहते है। २. दूसरे लोग इन्द्रियों को भी चेतन आत्मा मानते है। ३. तीसरे लोग मन को ही आत्मा कहते है। ४. कुछ लोग [अर्थात् विज्ञानवादी योगाचार बौद्ध लोग] क्षणिक विज्ञान को ही आत्मा कहते हैं। ५. दूसरे [शून्यवादी माध्यमिक

संसारी कर्ता, भोक्तेत्यपरे। भोक्तैव केवलं न कर्तेत्येके। अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति केचित्। आत्मा स भोक्तुरित्यपरे। एवं बहवो विप्रतिपन्ना युक्तिवाक्यतदाभाससमाश्रयाः सन्तः। तत्राविचार्य यत्किंचित्प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात्प्रतिहन्येतानर्थं चेयात्। तस्माद्ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेन वेदान्तवाक्यमीमांसा तदविरोधितर्कोपकरणा निःश्रेयसप्रयोजना प्रस्तूयते ॥ १ ॥

बौद्ध शून्य को ही आत्मा मानते है। ६ अन्य [अर्थात् नैयायिक लोग] संसारी [जन्म मरण मे आने वाले जीवात्मा] कर्त्ता और भोक्ता आत्मा देहादि से भिन्न है, यह मानते हैं। ७. कुछ लोग केवल भोग करने वाला है, कर्म करने वाला नहीं ऐसा मानते है। ८ कुछ लोग [अर्थात् ईश्वर मानने वाले] उस [अर्थात् जीवात्मा] से भिन्न ईश्वर ही सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान [आत्मा] है ऐसा मानते है। और ९ वही [अर्थात् ईश्वर] भोक्ता [अर्थात् जीवात्मा] का [आत्मा अर्थात्] स्वरूपभूत है ऐसा अन्य लोग मानते हैं। इस प्रकार [ब्रह्म अर्थात् ईश्वर के विषय मे] विमतिग्रस्त होकर [अपने-अपने पक्ष के समर्थन के लिये] युक्त्याभास, श्रुत्याभास, अनुभवाभास [अर्थात् असङ्गत-युक्ति, असङ्गत श्रुति और भ्रान्त अनुभूति] आदि के आधार पर अपने अपने मत का प्रतिपादन करते है। उस विषय मे उचित रूप से विचार किये बिना किसी मत को मान लेने वाला मनुष्य नि श्रेयस [अर्थात् मोक्ष [को प्राप्त नहीं कर सकता है, उल्टे अनर्थ में फँस जावेगा। इसलिये ब्रह्मजिज्ञासा के द्वारा [सूत्रकार] निःश्रेयस को देनेवाली और वेदान्त के अविरोधी तर्कों द्वारा पुष्ट किये जाने वाले उपनिषद् वाक्यो के विचार को प्रस्तुत कर रहे हैं।

इस प्रकार प्रथम सूत्र का भाष्य यहाँ समाप्त हुआ। भाष्यकार ने इस सूत्र मे 'अथ' शब्द को आनन्तर्यार्थक और 'अतः' शब्द को हेत्वर्थक माना है और उस आनन्तर्यार्थता का बड़े विस्तार से उपपादन किया है। इसका कारण मुख्यत अपने पूर्ववर्त्ती वेदान्त सूत्रो के किन्हीं अज्ञातनामा व्याख्याकार आचार्य का खण्डन करना है जिन्होने 'अथ' शब्द को आरम्भार्थक या अधिकारार्थक माना था। वास्तव मे वह अर्थ अधिक सगत होता है। ग्रन्थ के आरम्भ मे आनन्तर्यार्थ मे अथ शब्द का प्रयोग उचित प्रतीत नहीं होता क्योकि 'किसके अनन्तर' यह बात कहीं बिल्कुल बाहर से खींचकर लानी पड़ती है। और 'शाब्दी हि आकाङ्क्षा शब्दे-

नैव पूर्यते" इस सामान्य सिद्धान्त के अनुसार प्रकारान्तर से बाहर से खींच कर लाये हुये किसी अर्थ का शाब्दबोध मे अन्वय नहीं बनता। यह तो 'अथ' शब्द को आनन्तर्यार्थक मानने मे सूत्र के प्रारम्भ की ओर एक दोष होता है। 'अथ' शब्द को आनन्तर्यार्थक मानने पर एक दोष और भी होता है और वह है सूत्र के अन्त मे 'कर्त्तव्याऽथवा आरभ्यते' पदो का अध्याहार करना। 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' इसमे अथ शब्द का अनन्तर अर्थ करने पर 'अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा' यह सूत्रार्थ बनता है। किन्तु यह सूत्रार्थ आदि और अन्त मे दोनो ओर अपूर्ण है। सूत्र के अन्त मे कर्त्तव्या पद का अध्याहार भाष्यकार ने किया है और पूर्व मे बाहर से लाये हुये साधनचतुष्टय सम्पत्ति इस अर्थ का अध्याहार उन्हे करना पड़ा है। इस प्रकार दोनों ओर क्रमश अर्थाध्याहार तथा शब्दाध्याहार करके भाष्यकार को सूत्र की संगति लगानी पड़ी है। पर पूर्ववर्त्ती व्याख्याकार—जिनका वे खण्डन कर रहे है—'अथ' शब्द को आरम्भार्थक मानकर इन दोनो अध्याहारो को साफ पचा गये हैं। उनके यहाँ अथ का अर्थ है 'आरभ्यते' इसलिये 'ब्रह्मजिज्ञासा आरभ्यते' यह वाक्यार्थ पूरा बन जाता है। और किसी अध्याहार की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस पक्ष मे आनन्तर्य की कोई चर्चा नहीं है इसलिये आरम्भ मे भी किसी अर्थाध्याहार की आवश्यकता नहीं है। इसलिये पूर्ववर्त्ती व्याख्याकार की व्याख्या भाष्यकार की व्याख्या की अपेक्षा अधिक सुन्दर और उचित प्रतीत होती है।

भाष्यकार ने सूत्र मे आये हुये अत शब्द को हेत्वर्थक माना है और उसकी व्याख्या मे 'यस्माद्वेद एवाग्निहोत्रादीना श्रेयःसाधनानामनित्यफलतां दर्शयति' इत्यादि युक्ति प्रस्तुत की है किन्तु अतः शब्द को यदि मर्यादार्थक अथवा अभिविधि अर्थ मे माना जाता तो अधिक उपयुक्त होता। उस दशा मे उसका अर्थ होता 'अत. पर ब्रह्मजिज्ञासा आरभ्यते' यहाँ से 'ब्रह्मजिज्ञासा' या ब्रह्मविचार आरम्भ किया जा रहा है यह सूत्र का सरलार्थ हो जाता। पर उसमे फिर भाष्यकार को अपना पाण्डित्य दिखलाने का अवसर नहीं मिलता, इसीलिये भाष्यकार ने अपने भाष्यग्रन्थ को अधिक पाण्डित्यपूर्ण एव गौरवशाली बनाने के लिये इस प्रकार की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या की है।

भाष्यग्रन्थ के आरम्भ मे हम यह चर्चा कर चुके हैं कि भाष्य के आरम्भ की कुछ पक्तियों की वाक्यरचना बड़ी अटपटी सी हुई है। इसलिये वाचस्पति मिश्र जैसे व्याख्याकार को भी उसकी व्याख्या करने मे कठिनाई का सामना करना पड़ा है। कुछ वैसी ही बात इस सूत्र के भाष्य के अन्तिम भाग मे भी पाई जाती है। भाष्य के अन्तिम भाग में 'एव बहवो विप्रतिपन्ना युक्तिवाक्यतदाभास-

समाश्रया सन्तः' यह पक्ति आई है। इस पक्ति की वाक्यरचना अटपटी सी है और उसका अर्थ ठीक समझ मे नहीं आता। वाक्य के अन्त मे युक्ति-वाक्यतदाभाससमाश्रयाः सन्तः' यह वाक्यरचना अपूर्ण है। उसके आगे किसी 'स्वमत प्रतिपादयन्ति' आदि जैसे क्रियापदयुक्त वाक्यांश के अध्याहार की आवश्यकता है। उसके बिना अर्थ पूर्ण नहीं हो रहा है। यदि इस अध्याहार को बचाना चाहे तो उसकी व्याख्या का एक मार्ग यह हो सकता है कि वाक्य के आरम्भ मे आये हुये 'बहवो विप्रतिपन्नाः' इन दोनों पदों को वहाँ से हटाकर सन्त' के बाद वाक्य के अन्त मे जोडा जाय। उस दशा मे 'एव युक्ति वाक्य-तदाभाससमाश्रया सन्तो बहवो विप्रतिपन्नाः' यह वाक्य की रचना होनी चाहिये। उस दशा मे युक्ति वाक्य, युक्त्याभास तथा वाक्याभास का अव-लम्बन करके बहुत से लोग विप्रतिपत्ति अर्थात् सन्देह या भ्रम मे पड गये हैं, यह वाक्यार्थ होगा। दोनो मे से किसी भी प्रकार की व्याख्या की जाय किन्तु भाष्यकार के इस वाक्य की रचना त्रुटिपूर्ण है।

वैयासकिन्यायमाला मे अधिकरण का साराश :—

वैयासकिन्यायमालाकर श्री भारतीतीर्थ मुनि ने इस ब्रह्मजिज्ञासाधिकरण का साराश संक्षेप मे निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया है —

अविचार्य विचार्य वा ब्रह्माध्यासानिरूपणात्।
असदेहाफलत्वाभ्या न विचारं तदर्हति ॥
अध्यासोऽहंबुद्धिसिद्धोऽसङ्गं ब्रह्म श्रुतीरितम्।
सदेहान्मुक्तिभावाच्च विचार्य ब्रह्म वेदत ॥

इस अधिकरण मे ब्रह्म या ईश्वर के विषय मे किसी प्रकार का विचार करने की आवश्यकता है या नहीं यह सन्देह उठाया गया है। उसके बाद पूर्वपक्ष यह है कि ब्रह्म या ईश्वर मे न तो जगत् का अध्यास बनता है न जगत् मे ब्रह्म या ईश्वर का अध्यास। इसलिये अध्यास का निरूपण सम्भव न होने से ब्रह्म का विचार व्यर्थ है और निष्फल एवं असन्दिग्घ होने के कारण ब्रह्म का विचार अनुप-पन्न है। इस पूर्वपक्ष के समाधान के लिये इस वर्णक के द्वितीय श्लोक मे यह युक्ति प्रस्तुत की है कि विषय और विषयी अर्थात् जगत् और ब्रह्म का और उनके धर्मों का अध्यास 'अहंबुद्धि' से सिद्ध है क्योकि वास्तव मे ता ब्रह्म को श्रुत्यादि मे 'असङ्ग' कहा गया है। बिना अध्यास के उसमे 'अह करोमि' आदि प्रतीति नहीं बन सकती इसलिये ब्रह्म मे 'अहं करोमि' आदि बुद्धि के आधार पर अध्यास की सिद्धि होती है और ब्रह्म या ईश्वर का सामान्य रूप से ज्ञान होने पर

भी उसके विशेषरूप का ज्ञान न होने से उसमे सन्देह भी है तथा ब्रह्मज्ञान का फल मोक्षप्राप्ति है इसलिये ब्रह्म का विचार करना आवश्यक तथा उपयुक्त है ।।१।।

२. जन्माद्यधिकरण

ब्रह्म या ईश्वर का लक्षण :—प्रथम सूत्र मे सूत्रकार ने ब्रह्मजिज्ञासा अर्थात् ईश्वरसम्बन्धी विचार आरम्भ करने की प्रतिज्ञा की थी। किसी विषय पर विचार करने से पहले उसका लक्षण करना आवश्यक होता है। न्यायदर्शन के भाष्यकार ने 'त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः, उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति' (१) उद्देश, (२) लक्षण तथा (३) परीक्षा इन तीन को शास्त्र का आवश्यक अग माना है। उनमे से 'नाममात्रेण वस्तु स्कीर्तनम् उद्देश' अर्थात् प्रतिपाद्य वस्तु के नाममात्र का कथन करना 'उद्देश' कहलाता है। यहाँ सूत्रकार ने 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्र मे 'ब्रह्म' का नाममाऽेण कथन करके उसका 'उद्देश' कर दिया है। उद्देश के बाद अब लक्षण का पर्याय आता है। 'लक्षणन्तु असाधारणधर्मवचनम्' असाधारण धर्म का अर्थात् ऐसे विशेष धर्म का जो वक्ष्यमाण पदार्थ को छोड़कर अन्यत्र न रहता हो, कथन 'लक्षण' कहा जाता है। यह लक्षण दो प्रकार का होता है—एक 'स्वरूप लक्षण' और दूसरा 'तटस्थ लक्षण'। 'स्वरूपान्तरभूतत्वे सति अन्यव्यावर्त्तकं स्वरूपलक्षणम्' जो वस्तु के स्वरूप के अन्तर्गत आ जाता हो और अन्यों से भेद करने वाला हो उसको 'स्वरूपलक्षण' कहते हैं जैसे—'सच्चिदानन्द ब्रह्म'। ब्रह्म अर्थात् ईश्वर सत् चित्, और आनन्दस्वरूप है। यह ब्रह्म या ईश्वर का स्वरूपलक्षण है क्योंकि सत्, चित् और आनन्द तीनों ब्रह्म के स्वरूप के अन्तर्गत हैं और अन्यों से उसको भिन्न करते हैं इसलिये 'स्वरूपान्तरंभूतत्वे सति इतरव्यावर्तक स्वरूप-लक्षणम्' इस परिभाषा के अनुसार सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म का स्वरूपलक्षण है। दूसरा तटस्थ लक्षण होता है 'स्वरूपान्तरभूतत्वे सति इतरव्यावर्त्तकं तटस्थ-लक्षणम्' जो स्वरूप के अन्तर्गत न होने पर भी अन्य से भेद करने वाला हो उसे तटस्थ लक्षण कहते है। यहाँ सूत्रकार ने अगले सूत्र मे 'जन्माद्यस्य यत' इत्यादि ब्रह्म का जो लक्षण प्रस्तुत किया है वह 'तटस्थ लक्षण' प्रस्तुत किया है। जिस निमित्तकारण से जगत् के जन्मादि अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते है वह ब्रह्म अर्थात् ईश्वर कहलाता है। यह ब्रह्म अर्थात् ईश्वर का 'तटस्थ लक्षण' है क्योंकि जगत् के जन्मादि ईश्वर के स्वरूप के अन्तर्गत नहीं आते किन्तु अन्य जीव तथा प्रकृति दोनो से ब्रह्म या ईश्वर को भिन्न करते है इस-लिये 'स्वरूपानन्तराभूतत्वे सति इतरव्यावर्त्तकं तटस्थलक्षणम्' इस परिभाषा

ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्युक्तम् । किंलक्षणं पुनस्तद्ब्रह्मेत्यत आह भगवान् सूत्रकारः—

जन्माद्यस्य यतः ॥ २ ॥

जन्मोत्पत्तिरादिरस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । जन्म-

के अनुसार जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के प्रति ईश्वर की निमित्त कारणता उसका तटस्थ लक्षण है । इसी लक्षण को आगे सूत्रकार ने 'जन्माद्यस्य यत ' इस सूत्र के द्वारा प्रस्तुत किया है । इसमे 'जन्मादि पद' से [जन्म आदिर्येषाम्] अर्थात् जन्म जिनके प्रारम्भ मे है उन (१) जन्म (२) स्थिति तथा (३) प्रलय तीनो का ग्रहण होता है । जन्म जिनके आदि में है इस कथन से दो प्रकार के अर्थ निकल सकते हैं । एक ऐसा अर्थ होगा जिसमे जन्म का सग्रह भी जन्मादि पद से हो जायेगा । इस पक्ष मे जन्म, स्थिति, भंग तीनों का ग्रहण जन्मादि पद से होता है । जन्मादि पद की इस प्रकार की व्याख्या को 'तद्गुणसविज्ञान बहुव्रीहि समास' कहते हैं । दूसरी व्याख्या के अनुसार जन्म को छोड़कर केवल स्थिति और प्रलय दो का ग्रहण जन्मादि पद से होता है क्योंकि उन्हीं दो के आरम्भ मे 'जन्म' पद आता है । इस प्रकार की व्याख्या को 'अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास' कहा जाता है । यहाँ जन्मादि पद से जन्म, स्थिति, भग अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय तीनो का ग्रहण अभीष्ट है इस लिये भाष्यकार ने जन्मादि पद मे 'तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास' माना है । इसी अभिप्राय को लेकर भाष्यकार ब्रह्म के लक्षणपरक 'जन्माद्यस्य यत ' वेदान्तदर्शन के इस द्वितीय सूत्र की व्याख्या निम्न प्रकार से प्रस्तुत करते है :—

ब्रह्म अर्थात् ईश्वर की जिज्ञासा [अर्थात् साक्षात्कारपर्यन्त ज्ञान की इच्छा] करनी चाहिये यह बात [प्रथम सूत्र मे] कह चुके है । उस ब्रह्म का लक्षण क्या है ? इस [प्रश्न के उपस्थित होने] पर भगवान सूत्रकार ने 'जन्माद्यस्य यत.' यह [ब्रह्म का लक्षण] कहा है —

सूत्रार्थ—इस जगत् के जन्मादि [अर्थात् उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय] जिस [निमित्तकारण] से होते हैं वह ब्रह्म [अर्थात् ईश्वर] कहलाता है [यह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण हुआ] ।

जन्म अर्थात् उत्पत्ति जिनके आदि मे है [उन जन्म, स्थिति और भंग अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तीनों का ग्रहण जन्मादि पद से होता है] यह 'तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि' [समास] है । इसका अभिप्राय [जगत् की]

स्थितिभङ्गं समासार्थः । जन्मनश्चादित्वं श्रुतिनिर्देशापेक्षं वस्तुवृत्तापेक्षं च । श्रुतिनिर्देशस्तावत् 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तैत्ति० ३।१) इत्यस्मिन्वाक्ये जन्मस्थितिप्रलयानां क्रमदर्शनात् । वस्तुवृत्तमपि, जन्मना लब्धसत्ताकस्य धर्मिणः स्थितिप्रलयसंभवात् । अस्येति प्रत्यक्षादिसंनिधापितस्य धर्मिण इदमा निर्देशः । षष्ठी जन्मादिधर्मसंबन्धार्था । यत इति कारणनिर्देशः । अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्यानेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः कारणाद्भवति तद्ब्रह्मेति वाक्यशेषः । अन्येषामपि भाव-

---

उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय है। इसमे जन्म को जो सबसे पहले कहा है वह श्रुतिनिर्देश [अर्थात् उपनिषद्वाक्य के आधार पर] और वस्तुस्थिति दोनों की दृष्टि से कहा गया है। श्रुतिनिर्देश 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्ति अभिसविशन्ति' (तैत्ति० ३।१) इत्यादि उपनिषद्वाक्य मे पाया जाता है क्योंकि उसमें जन्म, स्थिति और प्रलय का क्रम दिखलाई देता है और वस्तुस्थिति भी ऐसी ही है। पहले वस्तु का जन्म होता है तब उसी की स्थिति तथा प्रलय सम्भव होता है [इसलिये जन्म, स्थिति और नाश इन तीनों का ग्रहण वस्तुस्थिति के आधार पर भी किया गया है और श्रुतिनिर्देश के आधार पर भी। सूत्र मे आये हुये] अस्य इस पद से प्रत्यक्ष रूप से दिखलाई देने वाले जगत का इदं पद [अर्थात् इदम् पद से बने हुये षष्ठ्यन्त 'अस्य' इस रूप] से निर्देश किया गया है और षष्ठी विभक्ति [जगत् के] जन्मादि के साथ सम्बन्ध को सूचित करने वाली है। 'यत' इस पद से निमित्त कारण का निर्देश किया गया है। नाम और रूप के द्वारा प्रगट हुये अनेक कर्त्ता और भोक्ता [रूप जीवात्माओ] से युक्त, जिसमे नियत देश और नियत काल पर ही [जीवात्माओ को उनके] कर्मों का फल प्राप्त होता है जिसकी रचना [मानव के लिये] मन मे सोचने योग्य भी नहीं है [अर्थात् मन जिसकी कल्पना भी नहीं कर सकता इस प्रकार की] सूक्ष्म और दुष्कर रचना वाले इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय जिस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान [निमित्त] कारण से होती है वह [जगत का निमित्तकारण] ब्रह्म [अर्थात् ईश्वर] कहलाता है, यह

विकाराणां त्रिष्वेवान्तर्भाव इति जन्मस्थितिनाशानामिह ग्रहणम्।

यास्कपरिपठितानां तु 'जायतेऽस्ति' इत्यादीनां ग्रहणे तेषां जगतः स्थितिकाले संभाव्यमानत्वान्मूलकारणादुत्पत्तिस्थिति-नाशा जगतो न गृहीताः स्युरित्याशङ्क्येत, तन्माशङ्कीति योत्पत्तिर्ब्रह्मणस्तत्रैव स्थितिः प्रलयश्च त एव गृह्यन्ते।

न यथोक्तविशेषणस्य जगतो यथोक्तविशेषणमीश्वरं मुक्त्वा-न्यतः प्रधानादचेतनादणुभ्योऽभावात्संसारिणो वा उत्पत्त्यादि संभा-

---

वाक्य शेष है [अर्थात् उसका अध्याहार करना होगा]। अन्य भावविकारो [अर्थात् वस्तु या क्रियाओ के परिवर्त्तनो] का अन्तर्भाव इन्हीं तीन [अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय] के भीतर हो जाता है इसलिये उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय [इन तीन भावविकारो] का ग्रहण यहाँ किया गया है।

भावविकार—भावविकार शब्द से पदार्थ की विकृति या परिवर्त्तनों का ग्रहण होता है। पदार्थों के भीतर उनका जन्म, स्थिति और नाश ये तीन प्रकार के परिवर्त्तन मुख्यरूप से पाये जाते हैं इसलिये भाष्यकार ने यहाँ इन तीन ही 'भावविकारों' का ग्रहण किया है। यास्क ने अपने निरुक्त ग्रन्थ मे किसी प्राचीन 'वार्ष्यायणि' आचार्य का उल्लेख करते हुये छह प्रकार के 'भाव-विकारो' की चर्चा की है। 'षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः, जायतेऽ-स्ति विपरिणमते वर्धते अपक्षीयते विनश्यति चेति' इस प्रकार वार्ष्यायणि के मतानुसार यास्क ने छह प्रकार के भावविकारो का उल्लेख किया है किन्तु ये छहो भावविकार सृष्टि के भीतर स्थित वस्तुओ के बतलाये गये है सृष्टि के नहीं। इसलिये भाष्यकार उनका ग्रहण नहीं कर रहे हैं अपितु केवल उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय इन तीन प्रकार के भावविकारो का ग्रहण ही यहाँ जन्मादि पद से कर रहे है। इसी का स्पष्टीकरण वे आगे निम्न प्रकार प्रस्तुत करते है।

यास्क-परिपठित जायते अस्ति इत्यादि [षड्विध] भावविकारों का ग्रहण मानने पर तो उनकी जगत् के स्थिति काल मे भी सत्ता सम्भव होने से मूल-कारण से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय का ज्ञान नहीं हो पावेगा ऐसी शङ्का हो सकती है। वह शङ्का न उठ सके इसलिये ब्रह्म [अर्थात् ईश्वर से जगत् की] उत्पत्ति, उसी मे स्थिति और विनाश इन तीनो का ही ग्रहण यहाँ किया गया है।

पूर्वोक्त [नामरूपाभ्या व्याकृतस्य इत्यादि] विशेषणों से [युक्त जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय] पूर्वोक्त [सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान इत्यादि]

चयितुं शक्यम्। न च स्वभावतः, विशिष्टदेशकालनिमित्तानामिहोपादानात्। एतदेवानुमानं संसारिव्यतिरिक्तेश्वरास्तित्वादिसाधनं मन्यन्त ईश्वरकारणिनः। नन्विहापि तदेवोपन्यस्तं जन्मादिसूत्रे। न, वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात्सूत्राणाम्। वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्यन्ते। वाक्यार्थविचार-

---

विशेषणों से युक्त ब्रह्म [अर्थात् ईश्वर] को छोड़कर [प्रधान अर्थात्] अचेतन प्रकृति से [जैसा कि सांख्य वाले मानते हैं] अथवा [अचेतन] परमाणुओं से [जैसा कि वैशेषिक वाले मानते हैं] अभाव से [जैसा कि शून्यवादी माध्यमिक बौद्ध मानते हैं] अथवा [ससारी अर्थात्] जीवात्मा आदि किसी अन्य कारण से सम्भव नहीं है और न स्वभाव से [जैसा कि चारवाक लोग मानते हैं जगत की उत्पत्तिआदि] सम्भव है क्योंकि इस ससार में [कार्यों की उत्पत्ति के लिये निश्चित विशेष देश-काल आदि] कारण सामग्री का ग्रहण देखा जाता है [यदि स्वभावत पदार्थों की उत्पत्ति हो जाय तो किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति के लिये विशिष्ट देश-काल या विशिष्ट सामग्री की आवश्यकता न पड़े]। इसी अनुमान को ईश्वर को कारण मानने वाले [नैयायिक लोग 'क्षित्यादिकं सकर्त्तृक कार्यत्वाद् घटवत्' इस रूप मे] ईश्वर की सिद्धि के लिये प्रस्तुत करते हैं [अर्थात्] नैयायिक लोग अपनी अनुमान प्रक्रिया द्वारा क्षित्यादिं के कर्ता के रूप मे ही ईश्वर की सिद्धि करते हैं।

सूत्र का आधार अनुमान नहीं :—

पूर्वपक्ष—तो क्या यहाँ भी [अर्थात् इस 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र मे भी] वही [नैयायिकाभिमत अनुमान] प्रस्तुत किया गया है ?

उत्तर—नहीं [अर्थात् यहा अनुमान प्रस्तुत नहीं किया गया है। अनुमान के आधार पर इस सूत्र की रचना नहीं हुई है] क्योंकि वेदान्तसूत्र [यहाँ सूत्र शब्द श्लिष्ट है। उससे एक पक्ष मे इन सूत्रों का ग्रहण होता है और दूसरी ओर माला मे पिरोये हुये डोरे का ग्रहण होता है] उपनिषद्-वाक्यरूप कुसुमों के ग्रन्थन के लिये बनाये गये हैं [अर्थात् इन सूत्रो मे उपनिषद्वाक्यो का विचार किया गया है इसलिये इस सूत्र की रचना नैयायिको के उक्त 'क्षित्यादिकं सकर्त्तृकं कार्यत्वाद् घटवत्' इत्यादि अनुमान के आधार पर न होकर उपनिषद्-वाक्य के आधार पर हुई है] सूत्रो मे इसी वेदान्त-वाक्य को सामने रखकर ही विचार किया गया है और ब्रह्म अर्थात् ईश्वर का साक्षात्कारात्मक

णाध्यवसाननिर्वृत्ता हि ब्रह्मावगतिर्नानुमानादिप्रमाणान्तर-निर्वृत्ता। सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु जगतो जन्मादिकारणवादिषु तदर्थग्रहणदार्ढ्यायानुमानमपि वेदान्तवाक्यविरोधि प्रमाणं भवन्न निवार्यते, श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्याभ्युपेतत्वात्। तथाहि—'श्रोतव्यो मन्तव्यः' (बृह० २।४।५) इति श्रुतिः 'पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसंपद्येतैवमेवेहाचार्यवान्पुरुषो वेद' (छान्दो० ६।१४।२) इति च पुरुषबुद्धिसाहाय्यमात्मनो दर्शयति। न धर्मजिज्ञासायामिव श्रुत्यादय एव प्रमाणं ब्रह्मजिज्ञासायाम्। किंतु श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथासंभवमिह प्रमाणम्,

---

ज्ञान वाक्यार्थों के ज्ञान से ही होता है, अनुमानादि अन्य प्रमाणों के द्वारा नहीं। जगत की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय का कारण ब्रह्म अर्थात् ईश्वर ही है इस आशय के उपनिषद्वाक्यो के मुख्यत [प्रमाणरूप मे] उपस्थित होने पर ही उनके अर्थ-ज्ञान की पुष्टि के लिये उपनिषद्वाक्यो के समर्थक अनुमानादि प्रमाण भी हो सकते हैं इसलिये उसका निषेध हम नहीं कर रहे और स्वयं उपनिषदों ने भी [निम्न प्रसग मे] श्रुति के सहायक रूप में अनुमान को प्रमाण ठहराया है। जैसा कि 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इत्यादि (बृह० २।४।५) मे श्रोतव्यः से श्रुति का ग्रहण प्रधानरूप से किया गया है और उसके बाद तर्क या अनुमान द्वारा मनन को श्रुति के सहायक रूप मे प्रस्तुत किया गया है। जैसे [गान्धार देश को जानेवाला कोई] पण्डित मेधावी पुरुष [किसी कारणवश मार्ग से भटक जाय तो वह पूछताछ करके किसी न-किसी तरह] गान्धार देश मे पहुँच ही जाता है इसी प्रकार उत्तम आचार्य को प्राप्त पुरुष [योग या ब्रह्मसाक्षात्कार आदि के मार्ग मे पथभ्रष्ट हो जाने पर भी] आचार्य की सहायता से अपने ब्रह्मसाक्षात्काररूप लक्ष्य को प्राप्त कर ही लेता है। इस वाक्य मे पण्डित और मेधावी पदो द्वारा तर्क और अनु-मानादि को श्रुति के सहायक रूप मे सूचित किया है। (छान्दोग्य ६।१४।२) इसमे अपने [अर्थात् श्रुति के] सहायकरूप मे पुरुष की बुद्धि [अर्थात् तर्क] अनुमानादि, को दिखलाया है।] इसके बाद धर्मजिज्ञासा से अर्थात् पूर्वमीमासा तथा ब्रह्म-जिज्ञासा अर्थात् वेदान्तशास्त्र की स्थिति का भेद दिखलाते हैं] धर्मजिज्ञासा मे जैसे केवल श्रुति ही प्रमाण है [अनुमानादि अन्य प्रमाण नहीं] ब्रह्मजिज्ञासा मे वैसी बात नहीं है। ब्रह्मजिज्ञासा मे तो श्रुत्यादि भी प्रमाण हैं और यथा-सम्भव अनुभव आदि भी [प्रमाण हैं] क्योंकि ब्रह्मज्ञान की समाप्ति अनुभूति के

अनुभवावसानत्वाद्भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य। कर्त्तव्ये हि विषये नानुभवापेक्षास्तीति श्रुत्यादीनामेव प्रामाण्यं स्यात्पुरुषाधीनात्मलाभत्वाच्च कर्तव्यस्य। कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं लौकिकं वैदिकं च कर्म, यथाश्वेन गच्छति, पद्भ्यामन्यथा वा, न वा गच्छतीति। तथा अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति, नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति, 'उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति' इति विधिप्रतिषेधश्चात्रार्थवन्तः स्युः, विकल्पोत्सर्गापवादाश्च। न तु

अन्दर होती है और [ब्रह्मज्ञान] 'भूतवस्तु' [अर्थात् पूर्वसिद्ध वस्तु] विषयक होता है। कर्त्तव्य [अर्थात् क्रिया द्वारा साध्य धर्मादिरूप] वस्तु मे अनुभव की आवश्यकता नहीं होती है इसलिये केवल श्रुत्यादि को ही प्रमाण माना जा सकता है और कर्त्तव्यवस्तु की स्वरूपसिद्धि पुरुष व्यापार के अधीन ही होती है। [इसलिये भी उसमे केवल श्रुत्यादि ही प्रमाण है] क्योंकि लौकिक और वैदिक सारे कर्म [पुरुष की इच्छा के अनुसार] किये भी जा सकते है, नहीं भी किये जा सकते है और भिन्न प्रकार से भी किये जा सकते हैं [इस विषय मे लौकिक कर्म का उदाहरण देते हैं] जैसे घोडे पर चढकर जाता है अथवा पैरो द्वारा जाता है अथवा नहीं जाता है [गमन रूप लौकिक कर्म की कर्त्तुम् अकर्त्तुम् अन्यथा कर्त्तुम्' की शक्यता दिखलाई है] इसी प्रकार 'अतिरात्ररूप वैदिक कर्म अर्थात् यागविशेष मे ['षोडशी ग्रहण' अर्थात् षोडशी नामक पात्र विशेष के ग्रहण की कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा कर्त्तुम्' की शक्यता दिखलाते हैं] 'अतिरात्र' [नामक याग विशेष] मे 'षोडशी [नामक पात्र विशेष] को ग्रहण अकर्त्तुं करता है यह कर्त्तुं शक्यता दिखलाई है। यह 'षोडशी' ग्रहणरूप वैदिक कर्म की 'कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा कर्त्तुम्' की शक्यता का उदाहरण है [इसी प्रकार वैदिक कर्म का दूसरा उदाहरण देते हैं] 'सूर्य के उदय होने। पर होम करता है' [यह होम की सूर्योदयकाल मे कर्तुं शक्यता दिखलाई है] और 'सूर्यके उदय होने के पूर्व [अनुदिते] होम करता है' [इसमे होमरूप कर्म का अनुदयकाल मे अर्थात् सूर्योदयसे पूर्वकाल मे कर्त्तव्यता दिखलाई है। इससे पुरुष की इच्छा के अनुसार सूर्योदय के बाद या सूर्योदय से पहले दोनो प्रकार से यज्ञ किया जा सकता है यह बात सूचित की है] अब उससे वैदिक कर्मों की 'कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुंशक्यता' सिद्ध होती है। इस प्रकार यहां [उपर्युक्त दोनो वैदिक उदाहरणों मे क्रमशः किये हुए] विधि और प्रतिषेध सार्थक होते है और विकल्प, उत्सर्ग तथा

वस्त्वेव नैवमस्ति नास्तीति वा विकल्प्यते। विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्यपेक्षाः। न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षम्। किं तर्हि वस्तुतन्त्रमेव तत्। न हि स्थाणावेकस्मिन्स्थाणुर्वा पुरुषोऽन्यो वेति तत्त्वज्ञानं भवति। तत्र पुरुषोऽन्यो वेति मिथ्याज्ञानम्, स्थाणुरेवेति तत्त्वज्ञानं वस्तुतन्त्रत्वात्। एवं भूतवस्तुविषयाणां प्रामाण्यं वस्तुतन्त्रम्। तत्रैवं सति ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमेव, भूतवस्तुविषयत्वात्। ननु भूतवस्तुत्वे ब्रह्मणः प्रमाणान्तरविषयत्वमेवेति वेदान्तवाक्यविचारणानर्थिकैव प्राप्ता। न। इन्द्रियाविषयत्वेन सम्बन्धाग्रहणात्। स्वभावतो विषयविष-

---

अपवाद भी [क्रिया या कर्मकाण्ड को पुरुषव्यापारतन्त्र पुरुष की इच्छा अथवा व्यापार के अधीन मानकर ही] सार्थक होते है। किन्तु वस्तु [ब्रह्म आदि पूर्वसिद्ध पदार्थ] इस प्रकार की है या इस प्रकार की नहीं है इस भाँति के विकल्प का विषय नहीं होती है [उसके विषय में उठाये जाने वाले] विकल्प तो पुरुष की बुद्धि के अनुसार [भ्रमादिरूप] होते है [किन्तु वस्तु की यथार्थता के अनुरूप नहीं होते] क्योंकि वस्तु का यथार्थ ज्ञान वस्तु के अधीन है पुरुष की इच्छा के अधीन नहीं। जैसे एक ही स्थाणु [वृक्ष के ठूंठ अथवा खम्भे] के विषय में यह स्थाणु है अथवा पुरुष है अथवा कुछ अन्य है यह ज्ञान तत्त्वज्ञान [यथार्थज्ञान] नहीं होता है किन्तु उसके विषय में यह पुरुष है या [स्थाणु से भिन्न] कुछ और ही है यह ज्ञान मिथ्या ज्ञान ही होता है। यह स्थाणु ही है इस प्रकार का ज्ञान वस्तु के अधीन होने से अर्थात् वस्तुजन्य होने से यथार्थज्ञान कहलाता है इसी प्रकार [ब्रह्म इत्यादि 'भूत' अर्थात्] सिद्ध वस्तु के ज्ञानता प्रामाण्य वस्तुतन्त्र ही [वस्तु के अधीन ही] होता है। इसलिये ब्रह्म का ज्ञान भी [ब्रह्म या ईश्वर के] सिद्ध वस्तुरूप होने से वस्तुतन्त्र ही है।

प्रश्न—अच्छा, इस प्रकार तो ब्रह्म के सिद्ध वस्तु होने पर उसका ग्रहण [प्रत्यक्ष अनुमान आदि] अन्य प्रमाणो से हो जायेगा इसलिये वेदान्तवाक्यों का विचार व्यर्थ हो जाता है।

उत्तर—[ऐसा कहना] ठीक नहीं है। [ब्रह्म या ईश्वर के] इन्द्रियगोचर न होने से [सृष्टि आदि के साथ व्याप्तिरूप] सम्बन्ध का ग्रहण न होने से [ब्रह्म अथवा ईश्वर का ज्ञान प्रत्यक्ष या अनुमान आदि प्रमाणो से

याणीन्द्रियाणि, न ब्रह्मविषयाणि । सति हीन्द्रियविषयत्वे ब्रह्मणः इदं ब्रह्मणा संबद्धं कार्यमिति गृह्येत । कार्यमात्रमेव तु गृह्यमाणं किं ब्रह्मणा संबद्धं किमन्येन केनचिद्वा संबद्धमिति न शक्यं निश्चेतुम् । तस्माज्जन्मादि-सूत्रं नानुमानोपन्यासार्थं, किं तर्हि वेदान्तं वाक्यप्रदर्शनार्थम् । किं पुनस्तद्वेदान्तवाक्यं यत्सूत्रेणेह लिलक्षयिषितम् । 'भृगुर्वै वारुणिः । वरुणं पितरमुपससार । 'अधीहि भगवो ब्रह्मेति' इत्युपक्रम्याह—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति' (तैत्ति० ३।१) ।

नहीं हो सकता है] क्योकि इन्द्रियाँ स्वभावत [घट पटादि लौकिक] विषयो को ग्रहण करने वाली होती हैं। ब्रह्म या ईश्वर को ग्रहण करने वाली नहीं होतीं । यदि ब्रह्म इन्द्रिय का विषय होता तब तो यह कार्य [अर्थात् जगत्] क्या ब्रह्म से सम्बद्ध [अर्थात् ब्रह्म से उत्पन्न] है अथवा किसी अन्य से सम्बद्ध है ऐसा निश्चय किया जा सकता था किन्तु [यहाँ ब्रह्म का ग्रहण तो इन्द्रिय से होता नहीं] केवल कार्य मात्र [अर्थात् जगत्] का ग्रहण [इन्द्रिय द्वारा] होने से क्या यह कार्यभूत जगत् ब्रह्म से [अर्थात् ईश्वर से] उत्पन्न है अथवा किसी अन्य [प्रधान आदि] के साथ सम्बद्ध [अर्थात् प्रधानादि से उत्पन्न] है इस बात का निश्चय नहीं किया जा सकता है। इसलिये [ब्रह्म का लक्षणपरक] जन्मादि सूत्र अनुमान को प्रस्तुत करने वाला नहीं है किन्तु उपनिषद्वाक्य को [अपने आधार रूप मे] प्रस्तुत करने के लिये है।

प्रश्न—अच्छा तो, वह वेदान्तवाक्य कौन सा है जिसको लक्ष्य मे रखकर यह सूत्र लिखा गया है [या जिसको यह सूत्र लक्षित कर रहा है] ?

उत्तर—[तैत्तिरीयोपनिषद् के ३।१ मे निम्न प्रसग आया है] कि वरुण के पुत्र भृगु ऋषि अपने पिता वरुण के पास गये और उनसे बोले कि हे भगवन् ! मुझे ब्रह्म का ज्ञान कराइये [ब्रह्म का पाठ पढाइये] इद प्रकार का उपक्रम करके [अर्थात् इस प्रकार की भूमिका के बाद वरुण के ओर से बताये हुये ब्रह्म के स्वरूप के विषय मे निम्न वाक्य आया है कि] 'जिससे ये सब प्राणी [अर्थात् जगत्] उत्पन्न होते हैं, जससे उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं और विनष्ट होते समय जिसमे विलीन होते है वही ब्रह्म है, तुम उसको जानने का यत्न करो' [यह ब्रह्म या ईश्वर का तटस्थ लक्षण वरुण ने अपने पुत्र भृगु को

तस्य च निर्णयवाक्यम्—'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति' (तैत्ति० ३।६)। अन्यान्यप्येवंजातीयकानि वाक्यानि नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावसर्वज्ञस्वरूपकारणविषयाण्युदाहर्तव्यानि ॥ २ ॥

बतलाया आगे उसी ब्रह्म या ईश्वर का स्वरूप लक्षण दिखलाने के लिये इस प्रसंग का अन्तिम उपसंहार वाक्य प्रस्तुत करते है] और उसका [अर्थात् उक्त प्रसग का निर्णयवाक्य अर्थात्] उपसंहार वाक्य निम्न प्रकार आया है—"आनन्द [आनन्दस्वरूप ब्रह्म या ईश्वर] से ही यह सब भूत [अर्थात् जगत्] उत्पन्न होते हैं। आनन्द [आनन्दस्वरूप ब्रह्म या ईश्वर] से ही उत्पन्न होकर जीते है और विनष्ट होते समय आनन्द [आनन्दस्वरूप ब्रह्म या ईश्वर] मे ही लीन होते है। [यह ब्रह्म का स्वरूप लक्षण दिया गया है। इसी प्रसंग मे आये हुये 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति' इत्यादि उपनिषद्वाक्य को मुख्यतः लक्ष्य मे रख कर ही "जन्माद्यस्य यतः" इस सूत्र की रचना हुई है और प्रसगतः] इसी प्रकार के नित्यशुद्धबुद्धसर्वज्ञस्वरूप जगत् के कारण [रूप मे ईश्वर या ब्रह्म] का प्रतिपादन करने वाले उपनिषद्वाक्य ही [जन्माद्यस्य यत इस सूत्र के आधाररूप मे] प्रस्तुत किये जा सकते है।

अधिकरण का संक्षेप—वैयासकिन्यायमालाकार श्री भारती तीर्थ मुनि ने अपने ग्रन्थ मे इस द्वितीय अधिकरण का सक्षेप निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है—

"लक्षण ब्रह्मणो नास्ति कि वाऽस्ति नहि विद्यते।
जन्मादेरन्यनिष्ठत्वात्सव्यादेश्चाप्रसिद्धितः ॥
ब्रह्मनिष्ठं कारणत्वं स्याल्लक्ष्म स्रग्भुजगवत्।
लौकिकान्येव सत्यादीन्यखण्ड लक्षयन्ति हि ॥"

वैयासकिन्यायमालाकार ने यह जो अधिकरण का संक्षेप प्रस्तुत किया है उसके भीतर भाष्य के अभिप्राय से कुछ अधिक बात आ गई है जिससे वह संक्षेप कुछ कठिन हो गया है। सक्षेपकार का आशय यह है कि ब्रह्म का लक्षण बनता है या नहीं यह सन्देह यहां उपस्थित होता है। इसके ऊपर पूर्वपक्ष यह है कि ब्रह्म का कोई लक्षण नहीं है क्योंकि लक्षण दो प्रकार के होते हैं। एक 'स्वरूपलक्षण' और दूसरे 'तटस्थलक्षण'। 'स्वरूपान्तर्भूतत्वे सति अन्यव्यावर्त्तकं स्वरूपलक्षणम्' यह 'स्वरूपलक्षणं' की परिभाषा है। 'सत्य ज्ञान-

३. शास्त्रयोनित्वाधिकरणम्

मनन्तं ब्रह्म इसको ब्रह्म का स्वरूपलक्षण कहा जा सकता है किन्तु सूत्रकार ने यहा उसकी चर्चा नहीं की है इसलिये यह स्वरूपलक्षण भी यहां नहीं बनता है। जगज्जन्मादिकारणत्व को सूत्रकार ने 'जन्माद्यस्य यत.' सूत्र मे ब्रह्म के तटस्थ लक्षण के रूप मे प्रस्तुत किया है किन्तु वह ब्रह्म के स्वरूप के अन्तर्गत नहीं है। जन्मादि की सत्ता ब्रह्म मे नहीं किन्तु जगत् मे रहती है इसलिये अन्य-निष्ठ होने के कारण जगत् का जन्मादि ब्रह्म का लक्षण नहीं हो सकता अर्थात् जो 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि ब्रह्म का लक्षण बन सकता था उसका सूत्रकार ने कोई उल्लेख नहीं किया और जिस जगत् के जन्मादि का यहाँ उल्लेख किया है वह 'अन्यनिष्ठ' अर्थात् ब्रह्म से अतिरिक्त जगत् मे स्थित होने के कारण ब्रह्म का लक्षण नहीं हो सकता अत ब्रह्म अर्थात् ईश्वर का कोई लक्षण नहीं है यह पूर्वपक्ष हुआ। इसका उत्तर यह है कि जगत् का जन्मादि 'अन्य-निष्ठ' होने पर भी ब्रह्म का तटस्थ लक्षण हो सकता है अथवा 'यो भुजग सा स्रक्' इत्यादि मे स्रक् मे कल्पित भुजगत्व भी स्रक् को लक्षित करता है इसी प्रकार यह 'यज्जगत्कारण तद्ब्रह्म' इत्यादि रूप मे ब्रह्म मे कल्पित जगत्-कारणत्व भी ब्रह्म का लक्षण हो सकता है ॥ २ ॥

३. शास्त्रयोनित्वाधिकरण

अधिकरण की द्विविध व्याख्या :—पिछले दो सूत्रो मे क्रमशः ब्रह्म-जिज्ञासा की प्रतिज्ञा करके ब्रह्म का लक्षण प्रस्तुत किया गया था उसमें जगत् के जन्मादि अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय जिस निमित्त कारण से होते हैं वह ब्रह्म अर्थात् ईश्वर है इस प्रकार का लक्षण करके ब्रह्म अर्थात् ईश्वर को जगत् का कारण ठहराया गया था। इस पर यह शका हो सकती है कि ब्रह्म अर्थात् ईश्वर को ही जगत् के जन्मादि का कारण कैसे माना जाय क्योंकि साख्य आदि अन्य मतवादियो की दृष्टि मे ब्रह्म या ईश्वर से भिन्न प्रकृति, परमाणु या शून्यादि को जगत् का कारण माना जाता है। इनके विपरीत वेदान्तसूत्र-कार ब्रह्म अर्थात् ईश्वर को जगत् के जन्मादि का कारण बतलाते हैं सो इसका आधार क्या है? यह शका उठाई जा सकती है। इसलिये सूत्रकार अगले सूत्र मे शास्त्रयोनित्वात् इसको ब्रह्म की जगत्कारणता की सिद्धि के लिये हेतुरूप मे प्रस्तुत करते हैं। भाष्यकार ने इस सूत्र की दो प्रकार की व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं। उनका आधार 'योनि' शब्द की द्व्यर्थकता है। योनि शब्द के दो अर्थ हो सकते है। एक प्रमाण और दूसरा कारण। पहले अर्थ को लेकर सूत्र

जगत्कारणत्वप्रदर्शनेन सर्वज्ञं ब्रह्मेत्युपक्षिप्तं तदेव द्रढयन्नाह—

शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥

का अर्थ 'शास्त्रं योनि प्रमाण यस्मिन् तस्य भावः शास्त्रयोनित्व तस्मात् शास्त्र-योनित्वात्' इस प्रकार किया गया है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि सूत्रकार ने जो ब्रह्म अर्थात् ईश्वर को जगत् के जन्मादि का कारण कहा है वह 'शास्त्र-योनि' अर्थात् शास्त्रप्रमाणक है, अर्थात् शास्त्रों मे ब्रह्म या ईश्वर को ही जगत् के जन्मादि का कारण बतलाया गया है अन्य 'प्रधान' आदि को नहीं। इस-लिये शास्त्रयोनित्व अर्थात् शास्त्रप्रमाणकत्व अर्थात् वेदादि प्रतिपाद्य होने से ही जगत्-जन्मादिहेतुत्व को ब्रह्म अर्थात् ईश्वर का लक्षण कहा गया है। यह 'शास्त्रयोनित्वात्' इस सूत्र की पहली व्याख्या हुई।

इस सूत्र की दूसरी व्याख्या मे 'योनि' शब्द का अर्थ कारण है और 'शास्त्र-स्य योनि शास्त्रयोनि तस्य भाव शास्त्रयोनित्व तस्मात् शास्त्रयोनित्वात्' अर्थात् 'शास्त्र' अर्थात् वेदादि का 'योनि' अर्थात् कारण ब्रह्म है इसलिये वही जगत् के जन्मादि का कारण हो सकता है क्योंकि वेद की रचना के लिये भी सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान ब्रह्म अर्थात् ईश्वर की आवश्यकता है। कोई अल्पज्ञ जीव आदि सारी विद्याओं के प्रतिपादन करने वाले वेद आदि शास्त्रों की रचना नहीं कर सकता है। इसी प्रकार सृष्टि की रचना के लिये भी सर्वज्ञ सर्वशक्ति-मान कारण की आवश्यकता है। कोई अल्पज्ञ जीव आदि अथवा अचेतन प्रधान आदि जगत् की रचना नहीं कर सकता इसलिए शास्त्र का योनि अर्थात् वेदादि का कारणभूत ब्रह्म या ईश्वर ही जगत् के जन्मादि का हेतु हो सकता है इसलिए 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र मे जो ब्रह्म अर्थात् ईश्वर का लक्षण किया गया है वह सर्वथा उचित ही है यह इस अधिकरण की दूसरे प्रकार की व्याख्या का आशय है। इसी अभिप्राय को लेकर भाष्यकार सूत्र की दोनो तरह की व्याख्यायें निम्न प्रकार प्रस्तुत करते है —

जगत् का हेतु होने से ब्रह्म सर्वज्ञ [सर्वशक्तिमान आदि विशेषताओं से युक्त] है यह बात [पूर्वसूत्र मे] प्रसंगत कही जा चुकी है उसी को परिपुष्ट करते हुए सूत्रकार ने 'शास्त्रयोनित्वात्' यह अगला सूत्र लिखा है [सूत्र के अर्थ दो प्रकार के हो सकते हैं उनमे से प्रथम अर्थ निम्न प्रकार है]

प्रथम वर्णक :—शास्त्र अर्थात् अनेक विद्याओं से परिपूरित [समस्त सत्य विद्याओं के प्रतिपादक] प्रदीप के समान समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने

महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। न हीदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति। यद्यद्विस्तारार्थं शास्त्रं यस्मात्पुरुषविशेषात्संभवति, यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेर्ज्ञेयैकदेशार्थमपि स ततोऽप्यधिकतरविज्ञान इति प्रसिद्धं लोके। किमु वक्तव्यमनेकशाखाभेदभिन्नस्य देवतिर्यङ्मनुष्यवर्णाश्रमादिप्रविभागहेतोर्ऋग्वेदाद्याख्यस्य सर्वज्ञानाकरस्याप्रयत्नेनैव लीलान्यायेन पुरुषनिःश्वासवद्यस्मान्महतो भूताद्योनेः संभवः 'अस्य

वाले सर्वज्ञ के सदृश महान् ऋग्वेदादि शास्त्र का कारण ब्रह्म अर्थात् ईश्वर है क्योंकि इस प्रकार के [समस्त विद्याओं से परिपूरित समस्त अर्थों को प्रकाशित करनेवाले और सर्वज्ञ कल्प] ऋग्वेदादि शास्त्र की उत्पति सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान [ब्रह्म या ईश्वर] को छोडकर अन्य किसी से नहीं हो सकती है। जिस शास्त्र की रचना जिस विषय के प्रतिपादन के लिये जिस [विद्वान्] के द्वारा की जाती है वह [विद्वान्] उस [शास्त्र में प्रतिपादित विषय] से भी अधिक ज्ञानवान् होता है जैसे व्याकरणादि शास्त्र पाणिनि आदि के ज्ञान का एकदेश मात्र है [क्योंकि पाणिनि को व्याकरण के अतिरिक्त अन्य विषयों का भी ज्ञान था इसलिये व्याकरण शास्त्र मे पाणिनि के ज्ञेय या पाणिनि को ज्ञात पदार्थों के एकदेश मात्र का वर्णन है। पाणिनि उससे भी अधिक ज्ञानवान् है] तब फिर अनेक शाखाओं के भेद से युक्त देव, तिर्यक् [अर्थात् जिससे चलने वाले पशु पक्षी आदि] मनुष्य, वर्ण, आश्रम आदि [के गुण कर्मादि] का विभाग करने वाले समस्त ज्ञान के आकर ऋग्वेदादि नामक महान शास्त्र की उत्पत्ति श्वास प्रश्वास के समान अनायास ही जिस [ब्रह्म या ईश्वर] से हुई है उसकी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता के विषय मे तो कहना ही क्या है [वह तो स्वयसिद्ध है]। ईश्वर से ऋग्वेदादि की उत्पत्ति, 'लीलानिश्वसितन्याय' से अर्थात् अनायास बिना किसी प्रकार के प्रयत्न के सहज स्वाभाविक रूप से हुई है इस बात के समर्थन के लिए प्रमाण रूप मे आगे (बृहदारण्यक २।४।१०) को प्रस्तुत करते हैं—जैसा कि 'अस्य महतो भूतस्य नि श्वसितमेतद्यदृग्वेदः' अर्थात् जिस महान् शक्तिशाली के निश्वास के समान [अनायास उत्पन्न] यह ऋग्वेद

महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' (बृह० २।४।१०) इत्यादि श्रुतेः। तस्य महतो भूतस्य निरतिशयं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं चेति। अथवा यथोक्तमृग्वेदादि शास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणमस्य ब्रह्मणो यथावत्स्वरूपाधिगमे। शास्त्रादेव प्रमाणाज्जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यत इत्यभिप्रायः। शास्त्रमुदाहृतं पूर्वसूत्रे—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि। किमर्थं तर्हीदं सूत्रं, यावता पूर्वसूत्र एवैवंजातीयकं शास्त्रमुदाहरता शास्त्रयोनित्वं ब्रह्मणो दर्शितम्। उच्यते—तत्र पूर्वसूत्राक्षरेण स्पष्टं शास्त्रस्यानुपादानाज्जन्मादिकेवलमनुमानमुपन्यस्तमित्याशङ्क्येत तां शङ्कां निवर्तयितुमिदं सूत्रं प्रववृते शास्त्रयोनित्वादिति ॥ ३ ॥

है इत्यादि श्रुति मे कहा गया है। उस महान् शक्तिशाली की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता [निरतिशय अर्थात्] लोकोत्तर है [इस विषय मे तो कहना ही क्या इस पिछली पंक्ति मे आये हुये किमुत्तक के साथ इसका अन्वय होता है]।

द्वितीय वर्णक—अथवा यथोक्त [अर्थात् अनेक विद्यास्थानोपबृंहित सर्वार्थावद्योति और सर्वज्ञकल्प] शास्त्र अर्थात् ऋग्वेदादि इस ब्रह्म के स्वरूप के यथार्थ ज्ञान मे 'योनि' अर्थात् कारण अर्थात् प्रमाण हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जगत् के जन्मादि अर्थात् उत्पत्तिस्थितिप्रलय का कारण ब्रह्म या ईश्वर है यह बात शास्त्ररूप प्रमाण से ही सिद्ध होती है [इस विषय के प्रतिपादक] 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि [शास्त्र के वचन] को पिछले सूत्र मे ही उद्धृत किया जा चुका है।

प्रश्न—[जब जगत् के जन्मादि का हेतु ब्रह्म है यह बात पिछले सूत्र मे ही कही जा चुकी है] तब फिर इस सूत्र की रचना क्यो की गई है? क्योकि यह बात [अर्थात् ईश्वर का जगत् जन्मादि हेतुत्व] पिछले सूत्र से ही ज्ञात हो जाती है [तब फिर यह सूत्र व्यर्थ हो जाता है यह शका है इसका उत्तर आगे देते हैं]

उत्तर—पूर्वसूत्र मे शास्त्र का स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं किया गया है [केवल भाष्य मे उसकी चर्चा की गई है] इसलिये यह शंका हो सकती है कि इस [अर्थात् जन्माद्यस्य यतः] सूत्र मे केवल [नैयायिकाभिमत] अनुमान ही

प्रस्तुत किया गया है [अर्थात् शास्त्र के आधार पर सूत्र की रचना नहीं हुई है ऐसी शका हो सकती है] इस शका को दूर करने के लिये ही शास्त्रयोनित्वात् यह सूत्र लिखा गया है ।।

अधिकरण का सारांश :—

वैयासकिन्यायमालाकार ने इस सूत्र की दोनों प्रकार की व्याख्याओं का सारांश अपने ग्रन्थ मे निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है—

'न कर्तृ ब्रह्म वेदस्य कि वा कर्तृ न कर्तृ तत् ।
विरूप नित्यया वाचेत्येव नित्यत्ववर्णनात् ।।
कर्तृ नि.श्वसितायुक्तेर्नित्यत्वं पूर्वसाम्यतः ।
सर्वावभासिवेदस्य कर्तृत्वात्सर्वविद्भवेत् ।।

वैयासकिन्यायमाला के अनुसार प्रथम वर्णक मे यह सन्देह उठाया गया है कि ब्रह्म या ईश्वर वेद का कर्त्ता है अथवा नहीं उस पर पूर्वपक्ष यह हुआ कि 'विरूप ! नित्यया वाचा' इत्यादि श्रुति तथा स्मृति आदि ग्रन्थों मे वेद को 'नित्या वाक्' कहा गया है इसलिये ब्रह्म या ईश्वर उसका कर्त्ता नहीं है । इस पूर्वपक्ष के समाधान के लिये दूसरे श्लोक मे 'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः' [बृहदारण्यक २।४ इत्यादि उपनिषद्वाक्य मे] वेद को लीलानिःश्वसित न्याय से ईश्वर या ब्रह्म ने अनायास उत्पन्न किया इसलिये ब्रह्म वेद का कर्त्ता है और 'विरूप ! नित्यया वाचा' इत्यादि मे जो वेद को नित्या वाक् कहा है सो उसे प्रवाह से अनादि मानकर 'पूर्वसाम्यत' पूर्व कल्प के समान नवीन कल्प मे भी ऋषियो ने उसका उपदेश किया है इस अभिप्राय से कहा गया है । इस प्रकार प्रथम वर्णक मे ब्रह्म या ईश्वर को अनेक शाखाओ से युक्त और सब अर्थों को प्रकाशित करने वाले सर्वविद्यामय वेद का रचयिता ठहराकर उसकी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता आदि का प्रतिपादन किया गया है क्योंकि कोई अल्पज्ञ या अल्पशक्तिमान् सर्वविद्यामय और सब अर्थों के प्रकाशक वेद का रचयिता नहीं हो सकता है इसलिये सर्वज्ञ ब्रह्म या ईश्वर ही वेद का कर्त्ता है यह अर्थ शास्त्रस्य योनिः कारणम् ब्रह्म' इस प्रकार का विग्रह करके इस सूत्र द्वारा प्रदर्शित किया गया है ।

द्वितीय वर्णकमाह—

'अस्त्यन्यमेयताऽप्यस्य किंवा वेदैकमेयता ।
घटवत्सिद्धवस्तुत्वाद्ब्रह्मान्येनापि मीयते ।।
रूपलिङ्गादिराहित्यान्नास्य मान्तरयोग्यता ।
तं त्वौपनिषदेत्यादौ प्रोक्ता वेदैकमेयता ।।' ३ ।।

दूसरे वर्णक के अनुसार यह सन्देह उठाया गया है कि क्या ब्रह्म या ईश्वर वेद को छोडकर अन्य किसी प्रमाण से ही गृहीत हो सकता है अथवा नहीं ? इस पर पूर्वपक्ष यह बना कि ब्रह्म सिद्ध पदार्थ है और घट पटादि सिद्ध पदार्थों का ग्रहण शब्द प्रमाण के अतिरिक्त प्रत्यक्ष तथा अनुमानादि प्रमाणो से भी हो सकता है इसलिये ब्रह्म का ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणो के द्वारा भी किया जा सकता है वह केवल 'वेदैकगम्य' केवल वेदप्रतिपाद्य नहीं है। इस पूर्वपक्ष का समाधान करने के लिये इस वर्णक के द्वितीय श्लोक मे ग्रन्थकार ने यह युक्ति दी है कि ब्रह्म या ईश्वर रूपरहित निराकार है इसलिये उसका ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता और निराकार होने के कारण ही किसी अनुमानसाधक लिंग के साथ उसका व्याप्तिग्रह नहीं हो सकता। बिना व्याप्ति के ग्रहण किये अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होती है इसलिये ब्रह्म या ईश्वर रूपरहित निराकार होने के कारण न प्रत्यक्षगम्य है और न अनुमानगम्य। वह केवल शब्द प्रमाण से ही गम्य है। बाद मे अनुमानादि शब्दैकगम्य ब्रह्म या ईश्वर की सत्ता को परिपुष्ट करते है। वे मुख्य रूप से स्वतन्त्रतया उसका बोध नहीं कराते। इसीलिये 'त त्वा औपनिषद पुरुषं पृच्छामि' [बृहदा० ३।६।२६] इत्यादि उपनिषद्वाक्य मे ब्रह्म या ईश्वर को 'औपनिषद पुरुप' कहा गया है। 'औपनिषद' इस विशेपण से ब्रह्म या ईश्वर की उपनिपदैकगम्यता सूचित की गई है। इस प्रकार इस दूसरे वर्णक मे 'शास्त्रयोनित्वात्' इस सूत्र का 'शास्त्र योनिः कारणम् प्रमाण यस्मिन्' इत्यादि विग्रह करके उसकी वेदैकमेयता अर्थात् वेदप्रतिपाद्यता सूचित की गई है।: ३ ॥

४. समन्वयाधिकरण

पूर्वसंगति—इसके पूर्व 'जन्माद्यस्य यत' इस सूत्र मे ब्रह्म या ईश्वर को जगत् के जन्मादि अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण कहा गया था और 'शास्त्रयोनित्वात्' इस तृतीय सूत्र मे उसकी वेदप्रतिपाद्यता का वर्णन किया गया था। अब इस सूत्र मे ब्रह्म की वेदप्रतिपाद्यता और जगज्जन्मादि-हेतुत्व के समर्थन के लिये 'समन्वय' को हेतु रूप मे उपस्थित किया गया है। समन्वय का अर्थ वेद उपनिषद् आदि के अनेक उपनिषद्वाक्यो का एक ब्रह्म के वर्णन मे अभिप्राय है। समस्त वेद उपनिषद् आदि एकस्वर से ब्रह्म या ईश्वर को वेदो का प्रतिपाद्य विषय और जगत् के उत्पत्ति स्थिति और प्रलय का कारण बतलाते हैं। यही समस्त शास्त्रो का ब्रह्म मे 'समन्वय' है। इसी समन्वय के बल पर सूत्रकार ने ब्रह्म या ईश्वर को जगत् के जन्मादि अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय का कारण और शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ठहराया है।

मीमासकों का पूर्वपक्ष—भाष्यकार ने इस सूत्र पर बड़े विस्तार के साथ विचार किया है और उसमे पद-पद पर उनके पाण्डित्य और प्रतिभा का पुट दिखलाई देता है। भाष्यकार ब्रह्म को ही उपनिषदादि का मुख्य प्रतिपाद्य विषय मानते हैं किन्तु इसके विरोध मे भी कुछ मत पाये जाते है जिनमे सबसे मुख्य विरोधी मत मीमासको का है। मीमासक कर्ममार्ग के अनुयायी है। उनके मत मे सारे वैदिक साहित्य मे किसी न किसी कर्म का ही प्रतिपादन किया गया है। वह कर्म चाहे विधिरूप हो या निषेधरूप किन्तु कर्म के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से किसी अन्य पदार्थ का प्रतिपादन नहीं किया गया है। मीमांसको के इस सिद्धान्त को मीमासा दर्शन के 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (जैमिनि सूत्र १।२।१) इत्यादि सूत्र मे प्रस्तुत किया गया है। सूत्र का आशय यह है कि सारा आम्नाय अर्थात् वेद क्रियापरक है। विधिरूप या निषेधरूप मे किसी न किसी क्रिया का प्रतिपादन करता है अन्यथा यदि क्रियापरक नहीं है तो वह व्यर्थ है क्योंकि उसके आधार पर किसी वस्तु के हानि या उपादान मे कोई सहायता नहीं मिलती है। यह इस सूत्र का साधारण अर्थ हुआ। किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थो मे 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' सोऽरोदीत् यदरोदीत् तत् रुद्रस्य रुद्रत्वम्" इत्यादि कुछ वाक्य ऐसे मिलते हैं जिनमे विधि या निषेध किसी भी रूप मे साक्षात् किसी भी क्रिया का वर्णन नहीं मिलता है। पूर्व सूत्र के अनुसार 'अतदर्थं' अर्थात्-अक्रियार्थक क्रिया का प्रतिपादन न करने वाले होने से ऐसे वाक्यो का आनर्थक्य प्राप्त होता है किन्तु वैदिक साहित्य के किसी भी भाग का आनर्थक्य अभीष्ट नहीं हो सकता है इसलिए ऐसे वाक्यो की सगति लगाने का यत्न भी मीमासा दर्शन मे किया गया है। मीमांसा सिद्धान्त मे ऐसे वाक्यो को 'अर्थवाद वाक्य' कहते हैं। "प्रशसा निन्दा अन्यतरपर वाक्य अर्थवाद" यह अर्थवाद वाक्य का लक्षण किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि अर्थवाद वाक्य यद्यपि स्वतन्त्र रूप से किसी कर्म का प्रतिपादन नहीं करते है किन्तु प्रशसा या निन्दा द्वारा मनुष्य के उस उस विशेष कर्म में जिसकी कि वे प्रशसा वा निन्दा करते है प्रवृत्ति या निवृत्ति की प्रेरणा देते है इसलिए साक्षात् रूप से किसी कर्म के प्रतिपादन न होने पर भी किसी न किसी विधि वाक्य के साथ या निषेध वाक्य के साथ उनका सम्बन्ध जुड ही जाता है। इस प्रकार वे भी क्रियापरक बन जाते हैं। जैसे 'वायुर्वै क्षेपिष्ठ देवता' यह वाक्य वायुदेवता को अत्यन्त शीघ्रगामी [क्षेपिष्ठा] देवता कहकर उसकी प्रशंसा करता है और उसका सम्बन्ध वायु-देवता वाले यागादि कर्मो के साथ होता है। वायु की प्रशंसा द्वारा यह वाक्य

वायुदेवताकर्मों की प्रशसा करता है जैसे वायु अत्यन्त शीघ्रगामी देवता है ऐसी वायुदेवता कर्म अत्यन्त शीघ्र फल को प्रदान करने वाले होते है यह इस वाक्य के द्वारा प्रस्तुत प्रशसा का अभिप्राय है और उस अर्थवाद वाक्य को पढ कर वायुदेवताक कर्म मे शीघ्र प्रवृत्ति होती है। इसलिये 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादि अर्थवाद वाक्यो की किसी विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता होने से उनकी सार्थकता सिद्ध होती है। यह मीमासको का सिद्धान्त है। इसी सिद्धान्त को मीमांसा दर्शन मे "विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीना स्यु:" (जै० सूत्र १।२।७) इस सूत्र मे व्यक्त किया गया है।

जब मीमासको का यह निश्चित मत है कि सारा आम्नाय अर्थात् वैदिक साहित्य किसी न किसी क्रिया का ही प्रतिपादक है, सिद्ध पदार्थ का प्रतिपादक नहीं है तो फिर ब्रह्म या ईश्वर जो कि क्रिया रूप नहीं, सिद्ध पदार्थ है उसका प्रतिपादन वेद मे कैसे सम्भव हो सकता है। इसलिये वेद मे स्वतन्त्र रूप से ब्रह्म या ईश्वर का प्रतिपादन नहीं है। इधर वेदान्तसूत्रकार ने अपने 'शास्त्र-योनित्वात् [१।१।३] सूत्र मे ब्रह्म या ईश्वर को ही शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय बतलाया है । तब मीमांसको के साथ वेदान्तसूत्रकार का प्रबल विरोध उपस्थित हो जाता है इसलिये भाष्यकार ने मीमांसको के इसी सिद्धान्त को पूर्वपक्ष के रूप मे प्रस्तुत कर बड़े विस्तार के साथ और अत्यन्त प्रबल युक्तियो से मीमासको के मत का खण्डन किया है और यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि ब्रह्म या ईश्वर का प्रतिपादन ही उपनिषदादि शास्त्रो का मुख्य विषय है।

मीमांसकों के दो सम्प्रदाय—दार्शनिक दृष्टिकोण से मीमासकों के दो सम्प्रदाय पाये जाते है। एक कुमारिल भट्ट का सम्प्रदाय जिसे 'भाट्टमत या तौतातिक मत' और दूसरा 'प्रभाकर का मत' जिसे 'गुरुमत' भी कहा जाता है। पहले मत के सस्थापक श्री कुमारिल भट्ट हैं और दूसरे मत के सस्थापक प्रभाकर है। यह प्रभाकर यों तो कुमारिल भट्ट के शिष्य थे किन्तु प्रायः सभी सिद्धान्तों के विषय मे उनका मत कुमारिल भट्ट के मत से कुछ भिन्न ही रहता था। कुमारिल भट्ट अभिहितान्वयवाद को मानने वाले हैं इसके विपरीत प्रभाकर 'अन्विताभिधानवाद' के सस्थापक हैं।

अभिहितान्वयवाद का अभिप्राय यह है कि पहले पदों से पदार्थों की प्रतीति होती है। उसके बाद उन पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध जो पदो से उपस्थित नहीं हुआ था, वाक्यार्थमर्यादा से उपस्थित होता है। इसलिये पहिले पदो के द्वारा पदार्थ अभिहित अर्थात् अभिधा शक्ति द्वारा बोधित होते हैं, बाद

मे वक्ता के तात्पर्य के अनुसार उनका परस्पर अन्वय या सम्बन्ध होता है जिससे वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार वाक्यार्थ बोध के लिये अभिहित पदार्थों का अन्वय मानने के कारण कुमारिल भट्ट आदि का यह सिद्धान्त 'अभिहितान्वयवाद' कहा जाता है। इस मत मे पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध पदो से नहीं, अपितु वक्ता के तात्पर्य के अनुसार होता है, इसलिये उसको 'तात्पर्यार्थ' कहते हैं, वही वाक्यार्थ कहलाता है। और उसकी बोधक शक्ति को 'तात्पर्यारूपा शक्ति' भी कहा जाता है। इसी को भाट्टमत या तौतातिक मत कहते है।

दूसरा मत 'अन्विताभिधानवाद' है। इस सिद्धान्त के प्र तिपादक प्रभाकर, और उनके अनुयायी शालिकनाथ मिश्र आदि है। इनका कहना यह है कि पहिले 'केवल' पदार्थ अभिहित होते हो और बाद को उनका 'अन्वय' होता हो यह बात नहीं है बल्कि पहिले से 'अन्वित' पदार्थों का ही अभिधा से बोधन होता है। इसलिये इस सिद्धान्त का नाम 'अन्विताभिधानवाद' रखा गया है। और इस मत मे पदार्थों का 'अन्वय' पूर्व से ही सिद्ध होने के कारण, उसके कराने के लिये 'तात्पर्याख्या-शक्ति' की आवश्यकता नहीं होती है। इसी को 'गुरु मत या प्रभाकर मत' कहते हैं।

प्रभाकर अपने इस मत के समर्थन के लिये यह युक्ति देते है कि पदों से जो पदार्थों की प्रतीति होती है वह 'सकेतग्रह' के बाद ही होती है और उस सकेत का ग्रहण व्यवहार से होता है। जैसे छोटा बालक है, उसको यह ज्ञान नहीं होता है कि किस शब्द का क्या अर्थ है। कौन सा शब्द किस अर्थ के बोधन के लिये प्रयुक्त किया जाता है। वह अपने पिता आदि के पास बैठा है। पिता उसके बड़े भाई या नौकर आदि किसी को आज्ञा देता है कि 'जरा कलम उठा दो' बालक न कलम को जानता है और न 'उठा दो' का अर्थ समझता है। परन्तु वह पिता के इस वाक्य को सुनता है और भाई के व्यापार को देखता है। इससे उसके मन पर उस समीष्ट वाक्य के समष्टिभूत अर्थ का एक सस्कार बनता है। उसके बाद पिता फिर कहता है 'कलम रख दो और दवात उठा दो।' बालक फिर इस वाक्य को सुनता और भाई को तदनुसार क्रिया करते देखता है। इस प्रकार अनेक बार के व्यवहार को देखकर बालक धीरे-धीरे कलम, दवात, उठाना, रखना आदि शब्दो के अलग-अलग अर्थ समझने लगता है। इस प्रकार व्यवहार से सकेतग्रह होता है। यह सकेतग्रह 'केवल पदार्थ' मे नहीं अपितु किसी के साथ 'अन्वित पदार्थ' मे ही होता है। इसलिये जब 'केवल' अनन्वित पदार्थ मे संकेतग्रह नहीं होता है तो 'केवल' या 'अनन्वित' पदार्थ की उपस्थिति भी नहीं होती है। अतएव 'अन्वित' का ही 'अभिधान' अर्थात् 'अभिधा' से बोध

होने से 'अन्विताभिधान' ही मानना उचित है 'अभिहितान्वय' का मानना उचित नहीं है यह प्रभाकर के सिद्धान्त का सार है। इसी को गुरुमत नाम से भी कहा जाता है।

प्रभाकर का परिचय—इस 'अन्विताभिधानवाद' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले प्रभाकर, वस्तुत 'अभिहितान्वयवादी' कुमारिलभट्ट के शिष्य है। पर उनका अनेक विषयो मे अपने गुरु से मतभेद रहा है। प्रभाकर अपने विद्यार्थी जीवन मे बडे ही प्रतिभाशाली विद्यार्थी थे और अपने स्वतन्त्र विचारोके लिये प्रसिद्ध थे। प्रत्येक विषय पर वे अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा और स्वतन्त्र विचार शैली से विचार करते थे जिसके कारण कभी-कभी उनके गुरु कुमारिल भट्ट को भी कठिनाई का सामना करना पड़ता था।

एक बार की बात है कि कुछ विद्वानो मे 'आतिवाहिक पिण्ड' के सिद्धान्त पर विवाद छिड़ गया। आतिवाहिक पिण्ड का अभिप्राय मृत्यु के बाद दिये जाने वाले पिण्ड से है। एक पक्ष उसके दिये जाने का समर्थन करता था और उसकी एक विधि का प्रतिपादन करता था। दूसरा पक्ष उसका विरोधी था। अन्त मे यह विवाद निर्णय के लिये कुमारिल भट्ट के पास पहुँचा। कुमारिल भट्ट ने अपनी सम्मति के अनुसार एक पक्ष मे व्यवस्था दे दी। परन्तु यह व्यवस्था प्रभाकर को रुचिकर प्रतीत नहीं हुई और उन्होने उसका प्रतिवाद किया। बाहर के विद्वान् तो कुमारिल भट्ट की व्यवस्था लेकर चले गये परन्तु जो विवाद अबतक बाहर था वह अब घर मे प्रारम्भ हो गया। कुमारिल भट्ट ने अनेक प्रकार से प्रभाकर को अपना सिद्धान्त समझाने का प्रयत्न किया परन्तु उसको सन्तोष न हुआ। या यो कहना चाहिये कि कुमारिल भट्ट अपनी युक्तियों से उसको चुप न कर सके। जैसे गान्धी जी अपने जीवन काल मे जवाहरलाल जी को अपने अहिंसा सिद्धान्त को पूरी तरह से समझा नहीं सके पर उनको यह विश्वास था कि मेरे बाद मेरे सिद्धान्त का पालन करने वाले 'जवाहर' ही होंगे। इसी प्रकार कुमारिल भट्ट को यह विश्वास था कि इस 'आतिवाहिक पिण्ड' के सिद्धान्त को प्रभाकर इस समय भले ही अपने तर्क के सामने न टिकने दे पर किसी दिन इस सिद्धान्त को मानेगा ही। इसलिये उस समय उन्होने इस विषय पर आगे चर्चा बन्द कर दी और प्रभाकर से कह दिया कि फिर कभी इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करेंगे।

बहुत दिन बीत गये। एक दिन सहसा कुमारिल भट्ट की मृत्यु का समाचार सुनाई दिया। यद्यपि सहसा किसी को उनकी मृत्यु का विश्वास न होता था पर जब सभी ने उनके शरीर की परीक्षा कर उसमे जीवन का कोई

चिह्न न पाया तो फिर उस पर विश्वास करने के अतिरिक्त और मार्ग ही क्या था। फलत सब लोगो ने उनका अन्तिम सस्कार करने की तैयारी प्रारम्भ कर दी। इस अन्तिम सस्कार के प्रसंग मे जब 'आतिवाहिक पिण्ड' का अवसर आया तो लोगो ने प्रभाकर की ओर देखा। परन्तु उस समय प्रभाकर ने बिना किसी सकोच के कुमारिल भट्ट की व्यवस्था के अनुसार ही सारी प्रक्रिया करवायी। सारी कार्यवाही पूर्ण हो जाने के बाद मृतक यान के उठाये जाने के पूर्व कुमारिल भट्ट के शरीर मे कुछ चेतना का सचार सा प्रतीत हुआ और धीरे धीरे थोड़ी देर बाद वे उठकर बैठ गये जैसे सोकर उठे हो। उठाने के बाद सब लोगो मे प्रसन्नता की लहर दौड गयी और इस बीच मे क्या क्या हुआ इस सबका समाचार उनको सुनाया गया। उस प्रसंग मे जब उनको यह मालूम हुआ कि आज प्रभाकर ने मेरे 'आतिवाहिक पिण्ड' सम्बन्धी सिद्धान्त को ही मान्य ठहराया था तब उनको भी प्रसन्नता हुई और उन्होने प्रभाकर को सम्बोधन करके कहा 'प्रभाकर जितमस्माभि'। कहो प्रभाकर, हम जीते न! प्रभाकर ने उत्तर दिया 'भगवन्! मृत्वा जितम्' भगवन्! मरकर जीते। मुझे जीतने के लिये आप को मरने का छल करना पड़ा या दूसरा जन्म लेना पडा।

प्रभाकर को 'गुरु' की उपाधि—

यह उन गुरु शिष्य के शास्त्रसमर की एक झांकी है। पर एक और घटना इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। एक दिन कुमारिल भट्ट के यहाँ विद्यार्थियो के पाठ हो रहे थे। प्राचीन पाठशालाओ की प्रणाली यह थी कि पाठ के समय छोटे-बड़े सभी विद्यार्थी, गुरुजी के पास ही बैठ कर सबके पाठ सुनते थे। इससे जो विद्यार्थी उस ग्रन्थ को पहिले पढ चुके होते थे उनको उसका पाठ दुबारा-तिबारा सुनने से वह और अधिक परिमार्जित हो जाता था और जिन्हे आगे चलकर वह ग्रन्थ पढना होता था उनका कुछ प्रारम्भिक सस्कार बन जाता था जो आगे उनको सहायता देता था।

ऐसे ही पाठ के प्रसंग मे सब विद्यार्थियो के साथ बैठे हुये प्रभाकर, अपने से किसी उच्च कक्षा के विद्यार्थियो का पाठ सुन रहे थे। पढ़ाते-पढाते गुरुजी अकस्मात् रुक गये। कोई क्लिष्ट पक्ति आ गयी थी जो लग नहीं रही थी। इसलिये गुरु जी ने उस पाठ को वहीं रोक दिया और देखकर कल पढाने को कह दिया।

पाठो के समाप्त हो जाने के बाद जब सब लोग उठ कर चले गये और गुरु जी अपने भोजन आदि अन्य कार्यों मे लग गये तो प्रभाकर ने आकर गुरु जी

की पुस्तक उठा ली और जहा गाडी अटक गयी थी उस पाठ को विचारने लगे। तनिक देर सोचने के बाद उन्हे मालूम हो गया कि यह, 'ईश्वर की रचना' को '७ सेर चना' बना देनेवाले आज के प्रेस के भूतो के समान लेखक के प्रमाद का खेल है। उसमें कोई शास्त्रीय गुत्थी नहीं है। पुस्तक मे लेखक के प्रमाद से पाठ अशुद्ध लिख दिया गया है इसलिये वह पक्ति नहीं लग रही थी। पुस्तक मे लिखा हुआ था 'अत्रापि नोक्त तत्रापि नोक्तम् इति पौनरुक्त्यम्'। इसका अर्थ यह होता था कि यहां भी नहीं कहा है और वहां भी नहीं कहा है इसलिये पुनरुक्ति है। यही समस्या बन गयी थी। पुनरुक्ति तो तब होती है जब एक ही बात दो बार कही जाय। जो बात न यहाँ कही गई, न वहाँ कही गयी वह पुनरुक्ति कैसे हो सकती है, यह बात समझ मे नहीं आ रही थी। प्रभाकर ने कलम लेकर उस पाठ को सशोधन करके इस प्रकार लिख दिया—

'अत्र तुना उक्तं तत्र अपिना उक्तम् इति पौनरुक्त्यम्।

अर्थात् यहाँ जो बात 'तुना' अर्थात् तु 'शब्द' से कही है वही बात वहाँ अर्थात् दूसरे स्थान पर 'अपिना' अर्थात् 'अपि' शब्द से कही गयी है इसलिये पुनरुक्ति है।

'अत्र तु नोक्तं तत्रापि नोक्तम् इति पौनरुक्त्यम्।'

इस पाठ मे जो पुनरुक्ति समझ मे नहीं आ रही थी, पाठ का सशोधन कर देने से बिल्कुल स्पष्ट हो गई। प्रभाकर चुपचाप पुस्तक रखकर चले आये। कुछ समय बाद जब कुमारिल भट्ट ने उस पाठ को विचारने के लिये पुस्तक उठायी तो सब कुछ हस्तामलकवत् स्पष्ट हो गया और यह समझने मे भी उनको देर न लगी कि यह कार्य प्रभाकर का है। उनको अपने शिष्य की प्रतिभा पर पहले ही विश्वास था पर आज उसकी अपूर्व प्रतिभा देखकर उनको बड़ा आनन्द हुआ और वे गद्गद हो गये। विश्वविद्यालयीय बाह्याडम्बरमय वातावारण के समान नहीं, अपितु विशुद्ध भावना से अपने समस्त शिष्यमण्डल के बीच आज उन्होने अपने उस शिष्य को 'गुरु' की गौरवमयी उपाधि प्रदान की। तब से आज तक प्रभाकर 'गुरु' के नाम से प्रसिद्ध हैं और दार्शनिक ग्रन्थों मे 'इति गुरुमतम्' कहकर अत्यन्त सम्मानपूर्वक उनके मत का उल्लेख किया जाता है।

तौतातिक मत—

इसके विपरीत कुमारिल भट्ट के मत का प्राय: 'इति तौतातिकमतम्' 'तौतातिक मत' नाम से उल्लेख किया जाता है। 'तौतातिक' शब्द का अर्थ 'तुशब्द: तात शिक्षको यस्य स तुतात:, तस्येदं तौतातिकम्' यह होता है।

'तु' शब्द जिसका 'तात' अर्थात् शिक्षक है वह तु-तात हुआ और उसका मत 'तौतातिक-मत' हुआ। ऊपर की घटना के अनुसार 'तु' शब्द से ही कुमारिल भट्ट को यह शिक्षा मिली थी, इसलिये वे ही 'तु- तात' हुये और उनका मत 'तौतातिक मत' कहलाया जाने लगा।

मीमांसकों के पूर्वपक्ष का सारांश—भट्ट और प्रभाकर दोनों ही मीमांसक हैं। इसलिये जहाँ उन दोनो मे मतभेद पाया जाता है वहा कुछ बातो मे दोनों की समानता भी है। ये दोनो ही सम्प्रदाय अनीश्वरवादी है। नैयायिक आदि ईश्वरवादी दार्शनिक विशेषकर दो कार्यों के लिये ईश्वर की सत्ता मानने को बाध्य करते है। उनमे से पहला कार्य है सृष्टि-रचना या जगत् की उत्पत्ति और दूसरा कार्य है वेदो की रचना या उपदेश। ये दोनो कार्य अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान जीवात्मा आदि किसी अन्य के द्वारा साध्य नहीं है इसलिये ईश्वर का मानना आवश्यक है यह नैयायिकों का मत है। यहा 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र मे जगत् के जन्मादि को ब्रह्म या ईश्वर की सत्ता का साधक बतलाया है किन्तु मीमासको ने सृष्टि को प्रवाह मे अनादि मानकर ईश्वरकी सत्ता को अनावश्यक ठहरा दिया है। इसी प्रकार नैयायिक लोग वेदों के प्रामाण्य एव उपदेश के लिये ईश्वर की सत्ता आवश्यक मानते है परन्तु अनीश्वरवादी मीमासकों ने वेद को नित्य, निर्दुष्ट और अपौरुषेय मानकर वहा भी ईश्वर की सत्ता को अनावश्यक ठहरा दिया है। इसलिये जब ईश्वर के मानने का कोई प्रयोजन नहीं रहता है तब उसका मानना व्यर्थ है और उस दशा मे वेदादि मे ईश्वर का प्रतिपादन सम्भव नहीं है। इसलिये पिछले 'शास्त्रयोनित्वात्' इस सूत्र मे जो ब्रह्म या ईश्वर को श्रुति का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ठहराया है वह उचित नही है। उस दशा मे 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों मे जो 'तत्' पदार्थ अर्थात् ईश्वर या ब्रह्म और 'त्वम्' पदार्थ अर्थात् जीवात्मा का वर्णन पाया जाता है उसकी किसी न किसी विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता करनी होगी अन्यथा 'सिद्ध' पदार्थ होने से उनका आनर्थक्य होने लगेगा इसलिये मीमांसको ने ब्रह्म या ईश्वर और जीव के प्रतिपादक वाक्यो को आनर्थक्य से बचाने के लिये 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता स्थापित की है या फिर कर्मकाण्ड मे अपेक्षित कर्त्ता और देवता के प्रतिपादक रूप मे जीवपरक तथा ईश्वरपरक वाक्यो की सगति लगाने का यत्न किया है।

यहा एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जीव और ईश्वर की चर्चा मुख्य रूप से उपनिषदो मे पाई जाती है पर उनमे कर्मकाण्ड का प्रकरण नहीं है। कर्मकाण्ड का प्रकरण मुख्यत. ब्राह्मणग्रन्थों मे पाया जाता है तब फिर कर्म और

४. समन्वयाधिकरणम्

कथं पुनर्ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वमुच्यते, यावता 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (जै० सू० १।२।१) इति क्रियापरत्वं शास्त्रस्य प्रदर्शितम्। अतो वेदान्तानामानर्थक्यम् , अक्रियार्थत्वात्। कर्तृदेवतादिप्रकाशनार्थत्वेन वा क्रियाविधिशेषत्वम् , उपासनादिक्रियान्तविधानार्थत्वं वा। न हि

जीवात्मा परमात्मा के प्रतिपादन करनेवाले दोनो प्रकरण अलग-अलग हुये। उस दशा मे जीव और ब्रह्मपरक वाक्यो का कर्मकाण्ड मे अपेक्षित कर्त्ता और देवता के प्रतिपादक वाक्यो के रूप मे सम्बन्ध करना उचित नही है इसलिये ऐसे वाक्यो की सङ्गति का मीमासको ने दूसरा मार्ग यह अपनाया है कि 'स्ववाक्य' अर्थात् उपनिषद्वाक्यों मे द्विविध प्रकार की उपासनाओ के प्रसङ्ग मे कर्त्ता के रूप मे जीवात्मपरक वाक्यो और देवता के रूप मे ब्रह्मपरक वाक्या की सङ्गति लगानी चाहिये। इस प्रकार किसी न किसी तरह जीव और ईश्वरपरक वाक्यों के साथ क्रिया का सम्बन्ध अवश्य जोडना चाहिये अन्यथा उनका आनर्थक्य हो जावेगा। पूर्वपक्षी मीमांसको के इस अभिप्राय का भाष्यकार ने यहा निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया है :—

पूर्वपक्ष—क्योकि जैमिनिसूत्र अर्थात् पूर्वमीमासा दर्शन के "आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यम् अतदर्थानाम्" इस सूत्र मे समस्त वेद भाग को क्रियापरक [अर्थात् कर्मकाण्ड का बोधक] कहा गया है, तब [सूत्रकार ने] ब्रह्म या ईश्वर को शास्त्र प्रतिपाद्य [अर्थात् उपनिषदो का मुख्य प्रतिपाद्य विषय] कैसे कहा है ? [अर्थात् ब्रह्म या ईश्वर शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय नहीं हो सकता है] इसलिये क्रियापरक न होने से वेदान्त [अर्थात् उपनिषदो] की अनर्थकता प्राप्त होती है।

[किन्तु किसी वेद भाग की अनर्थकता अभीष्ट नहीं हो सकती इसलिये 'कर्मकाण्ड मे अपेक्षित'] कर्त्ता और देवताके प्रकाशक रूप मे [क्रमशः जीवपरक तथा ईश्वरपरक वाक्यो की] सार्थकता हो सकती है [यह उपनिषदो के जीवपरक और ब्रह्मपरक वाक्यो की सगति का एक मार्ग मीमांसको ने दिखलाया और दूसरा मार्ग दिखलाते है] उपासनादि रूप किसी दूसरी क्रियाके विधान के लिये [जीवपरक तथा ब्रह्मपरक वाक्यों को लगाकर उन्हें] क्रियाविधि का अंग बनाना चाहिये क्योकि 'परिनिष्ठित' [परित.

परिनिष्ठितवस्तुप्रतिपादनं संभवति प्रत्यक्षादिविषयत्वात्परिनिष्ठितवस्तुनः । तत्प्रतिपादने च हेयोपादेयरहिते पुरुषार्थाभावात् । अत एव 'सोऽरोदीत्' इत्येवमादीनामानर्थक्यं मा भूदिति । 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' (जै० सू० १।२।७) इति स्तावकत्वेनार्थवत्त्वमुक्तम् । मन्त्राणां च 'इषे त्वा' इत्यादीनां क्रियातत्साधनाभिधायित्वेन कर्मसमवायित्वमुक्तम् । न क्वचिदपि वेदवाक्यानां विधिसंस्पर्शमन्तरेणार्थवत्ता दृष्टोपपन्ना वा । न च परिनिष्ठिते वस्तुस्वरूपे विधिः संभवति, क्रियाविषयत्वाद्विधेः । तस्मात्कर्मापेक्षितकर्तृस्वरूप-

---

सर्वतः निश्चयेनस्थित परिनिष्ठितम् अर्थात् पूर्वसिद्ध] वस्तु का प्रतिपादन वेद मे सम्भव नहीं है क्योकि वह [परिनिष्ठित ब्रह्म या जीव जैसी] पूर्वसिद्धवस्तु प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणो से गृहीत हो सकती है [अन्य प्रमाणो से सिद्ध वस्तु का ही प्रतिपादन यदि वेद मे किया जाय तो उसका प्रामाण्य नहीं रहेगा बल्कि वेद लोकसिद्ध अर्थ का अनुवादक मात्र हो जायेगा] और यदि उसका प्रतिपादन माना जाय तो [विधिरूप या निषेध रूप किसी भी क्रिया से उसका सम्बन्ध न होने से] वह न हेय हो सकेगा और न उपादेय । इसलिये उसे 'पुरुषार्थ' [पुरुषेण अर्थ्यमान] नहीं कहा जा सकता है ।

इसलिये 'सोऽरोदीत्' इत्यादि 'निन्दा या प्रशसापरक अर्थवाद वाक्यो की 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीना स्यु.' (जैमिनि सूत्र १।२।७) इस सूत्र के द्वारा विधियो के साथ एकवाक्यता करके उनको [विधि या निषेध रूप वाक्यो का स्तावक [स्तुति करने वाले] रूप मे माना है । [विधिपरक वाक्यो की स्तुति का फल विहित कर्म मे शीघ्र प्रवृत्ति के लिये और निषिद्ध कर्मो की निन्दा द्वारा उनसे निवृत्ति के लिये प्रोत्साहित करने से अर्थवाद वाक्यो की सार्थकता सिद्ध होती है और 'इषे त्वा' इत्यादि मन्त्रो मे क्रिया या उसके साधनो का वर्णन होने से क्रिया के साथ उनका सम्बन्ध बन जाता है । किन्तु क्रिया के सम्बन्ध के बिना कहीं भी वेदमन्त्रो की सार्थकता न देखी गई है और न युक्तिसंगत हो सकती है और [परिनिष्ठित अर्थात्] सिद्ध वस्तु [ब्रह्म इत्यादि] के स्वरूप मे विधि सम्भव नहीं है क्योकि विधि का सम्बन्ध केवल क्रिया से होता है । इसलिये (१) या तो कर्मकाण्ड मे अपेक्षित कर्त्ता और देवता के स्वरूप-प्रतिपादन द्वारा उपनिषदो को क्रिया-

देवतादिप्रकाशनेन क्रियाविधिशेषत्वं वेदान्तानाम् । अथ प्रकरणान्तरभयान्नैतदभ्युपगम्यते, तथापि स्ववाक्यगतोपासनादिकर्मपरत्वम् । तस्मान्न ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वम् ।

इति प्राप्ते उच्यते—

तत्तु समन्वयात् ॥ ४ ॥

तु-शब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः ।

विधि [अर्थात् कर्मकाण्ड] का [शेष अर्थात्] अंग मानना होगा अथवा (२) यदि [कर्मकाण्ड के प्रतिपादक ब्राह्मण ग्रन्थों से जीव और ब्रह्म के प्रतिपादन करने वाले उपनिषदों के] प्रकरण का भेद होने से इस [कर्मापेक्षित कर्त्ता और देवता के स्वरूप प्रतिपादक रूप में उपनिषद्वाक्यों की संगति] को स्वीकार नहीं करना चाहते हैं तो फिर 'स्ववाक्यगत' [अर्थात् उपनिषद्वाक्यों में ही प्रतिपादित] किसी उपासनादि कर्म का अंग वेदान्त [अर्थात् उपनिषद्ग्रन्थों] को मानना चाहिये। इसलिये किसी भी दशा में ब्रह्म [ईश्वर] को शास्त्र का [मुख्य प्रतिपाद्य] विषय नहीं माना जा सकता है।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर उनके [समाधानार्थ सूत्रकार ने] 'तत्तु समन्वयात्' [यह सूत्र] लिखा है।

[इस सूत्र में आया हुआ] 'तु' शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये लिया गया है [अर्थात् मीमांसकों ने जो जीव और ईश्वरपरक उपनिषद्वाक्यों को कर्म में अपेक्षित कर्त्ता और देवता का बोधक माना है वह उचित नहीं है क्योंकि] 'समन्वयात्' अर्थात् समस्त उपनिषद्वाक्यों की संगति [मुख्यतया प्रतिपाद्य ब्रह्म के विषय में ही लगने] से 'तत्' [वह ब्रह्म या ईश्वर ही उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है]

इस प्रकार भाष्यकार ने सूत्र का अर्थ प्रस्तुत किया है। उन्होंने तु शब्द, को पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के अर्थ में प्रयुक्त माना है और उसके उपपादन के लिये स्वयं पूर्वपक्ष बनाकर लिखा है पर सूत्रकार ने यहाँ कोई पूर्वपक्ष नहीं दिया। सूत्रकार द्वारा यदि कोई पूर्वपक्ष इस सूत्र के पहले उठाया गया होता तब तो 'तु' शब्द को पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थक माना जा सकता था। जब सूत्रकार ने कोई पूर्वपक्ष नहीं दिखलाया है तब तु शब्द को पूर्वपक्ष-व्यावृत्त्यर्थक मानना बहुत संगत नहीं हो रहा है। सूत्रकार की दृष्टि से देखें तो इस

तद्ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणं वेदान्तशास्त्रादेवावगम्यते ।

कथम् ,

समन्वयात् । सर्वेषु हि वेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येणैतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' । 'एकमेवाद्वितीयम्' (छान्दो० ६।२।१)

सूत्र मे पहले उन्होने दो बाते कही है। एक तो 'जन्माद्यस्य यत' सूत्र मे [१।१ २] ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय का कारण बतलाया है और दूसरी बात यह है कि ब्रह्म को शास्त्रप्रमाणक [शास्त्र योनिः प्रमाण यस्मिन्] प्रतिपादित किया है। इन दोनों बातो की पुष्टि ही यहाँ 'तत्तु समन्वयात्' सूत्र द्वारा की जा रही है। इसलिये यहाँ यदि 'तत्' शब्द से जगत्कारणत्व अथवा शास्त्रयोनित्व इस अर्थ को ग्रहण किया जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। उस दशा मे तु शब्द इन दोनो बातो पर विशेष बल देने के अर्थ मे लेना उचित प्रतीत होता है। उस दशा मे 'तत्' 'ब्रह्मण पूर्वोक्त जगज्जन्मादिहेतुत्व अथवा शास्त्रयोनित्व' तु समन्वयात् अर्थात् समन्वयबलात् सिध्यति यह सूत्र का अर्थ होगा। किन्तु भाष्यकार ने तु शब्द को पूर्वपक्ष-व्यावृत्त्यर्थक और तत् शब्द को ब्रह्मपरक मानकर तदेव ब्रह्म वेदान्तशास्त्रादेवावगम्यते' यह प्रतिज्ञा की है और उसकी सिद्धि के लिये 'समन्वयात्' यह हेतु प्रस्तुत किया है। समन्वयात् का अर्थ विभिन्न उपनिषद्वाक्यो की ब्रह्मरूप-तात्पर्यविषयीभूत अर्थ मे सगति है । विभिन्न उपनिषद्वाक्यो की ब्रह्मपरक सगति अथवा 'समन्वय' को दिखलाते हुये भाष्यकार भिन्न-भिन्न उपनिषदो के कुछ ब्रह्मपरक वाक्य आगे उद्धृत करते है।

प्रश्न—[ब्रह्म ही समस्त वेदान्तो का प्रतिपाद्य विषय है यह बात] कैसे ? [सिद्ध होती है]

उत्तर—'समन्वयात्' अर्थात् विभिन्न उपनिषद्वाक्यो की ब्रह्मपरक सङ्गति होने से [ब्रह्म की उपनिषद्प्रतिपाद्यता] सिद्ध होती है उसी 'समन्वय को' आगे दिखलाते हैं।

क्योकि सभी वेदान्तो अर्थात् उपनिषदो मे तात्पर्यविषयीभूत अर्थ के प्रतिपादक वाक्यो की सङ्गति लगती है [उन्हीं वाक्यो को उद्धृत करते हैं]

१. हे सौम्य [अग्रे अर्थात्] सृष्टि के आरम्भ मे सदैव सद्भूत [ब्रह्म] ही विद्यमान था और वह अद्वितीय और एक ही था [अर्थात् उसका सजातीय

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् (ऐत० २।१।१।१) तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम् । 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृह० २।५।१९)

'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मुण्ड० २।२।११) इत्यादीनि। न च तद्गतानां पदानां ब्रह्मस्वरूपविषये निश्चिते समन्वयेऽवगम्यमानेऽर्थान्तरकल्पना युक्ता श्रुतहान्यश्रुत-

---

देवता आदि कोई नहीं था। भाष्यकार का अभिप्राय यहा एकमेव से सजातीय-विजातीय और स्वगतभेद शून्य ब्रह्म से है पर उसका दूसरा अर्थ केवल सजातीय भेदशून्य ब्रह्म अथवा ईश्वर भी हो सकता है (छान्दोग्य ६।२।१)]।

२ [अग्रे अर्थात् सृष्ट्युत्पत्ति के पहले] यह अकेला [अर्थात् सजातीय भेद-शून्य अथवा सजातीय विजातीय स्वागतभेदशून्य] आत्मा [अर्थात् ईश्वर या ब्रह्म] विद्यमान था (ऐतरेय २।१।१।१)।

३ यह ब्रह्म [अर्थात् ईश्वर] अपूर्व और अनपरम् [अर्थात् उससे पहले कोई वस्तु नहीं थी और न उसके बाद कोई वस्तु रहती है] अनन्तरम् अर्थात् उसके भीतर [अर्थात् उससे सूक्ष्म] और अबाह्य अर्थात् उसके बाहर अर्थात् जहाँ उसकी पहुँच न हो ऐसी कोई वस्तु नहीं है क्योकि ईश्वर या ब्रह्म सबसे सूक्ष्म सर्वान्तर्यामी और विभु है। यहाँ अपूर्व अनपरम् आदि 'न विद्यते पूर्व यस्मात् तद् 'अपूर्व', न विद्यते अपरं यस्मात् तत् 'अनपरम्', न विद्यते अन्तरं यस्मात् तत् 'अनन्तर' न विद्यते बाह्य यस्मात् तत् 'अबाह्यं' इस प्रकार का समास करके अपूर्व, अनपर, आदि शब्दो का अर्थ करना चाहिये]। यह आत्मा ब्रह्म ही सबका अनुभव करने वाला है (बृहदारण्यक २।५।१९)

४ पुरस्तात् [अर्थात् सृष्टि के पहले] यह अमृत स्वरूप [अर्थात् अविनाशी] ब्रह्म ही [विद्यमान] था (मुण्डको० २।२।११) इत्यादि [समस्त उपनिषद्वाक्य तात्पर्यविषयीभूत अर्थ के रूप मे उसी ब्रह्म का बोधन करते है] और उन पदों का ब्रह्म के विषय मे निश्चित रूप से समन्वय हो जाने पर [कर्मकाण्ड मे अपेक्षित कर्ता या देवता आदि रूप] अन्य अर्थ की कल्पना करना उचित नहीं है क्योकि [ऐसा करने पर उनमे] श्रुत अर्थ की हानि [अर्थात् जो इन वाक्यो का ब्रह्मपरक अर्थ स्पष्ट दिखाई देता है उसकी हानि [अर्थात् परित्याग] और 'अश्रुत' अर्थात् वाक्यो में अपठित कर्त्ता देवता आदि] की कल्पना प्राप्त होने लगेगी [ये 'श्रुतहानि' और 'अश्रुत-कल्पना' दोनो ही दोष हैं इसलिये इन वाक्यों को कर्मापेक्षित कर्ता या

ब्रह्मणः, 'तत्त्वमसि' (छान्दो० ६।८।७) इति ब्रह्मात्मभावस्य शास्त्रमन्तरेणानवगम्यमानत्वात् ।

यत्तु हेयोपादेयरहितत्वादुपदेशानर्थक्यमिति ।

नैष दोषः, हेयोपादेयशून्यब्रह्मात्मतावगमादेव सर्वक्लेशप्रहाणात्पुरुषार्थसिद्धेः ।

है [अर्थात् जीव और ब्रह्म का अभेद है] इस बात का ज्ञान 'तत्त्वमसि' अर्थात् तू [जीवात्मा] तत् [ब्रह्मरूप] ही है इत्यादि जीव और ब्रह्म का अभेद शास्त्र के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण से गृहीत नहीं हो सकता है।

मीमासकों ने तीसरा दोष यह दिया था कि यदि ब्रह्म के साथ किसी क्रिया का सम्बन्ध न माना जाय तो उसके हेय या उपादेय न होने से उसकी प्राप्ति या ज्ञान को 'पुरुषार्थ' नहीं कहा जा सकता है क्योंकि किसी प्रतिकूल अर्थात् हेय वस्तु का हान और किसी अनुकूल वस्तु का उपादान अर्थात् ग्रहण की इच्छा ही पुरुष को होती है इसलिए पुरुषार्थ के अन्तर्गत हेय वस्तु का हान अथवा उपादेय वस्तु का उपादान ही आ सकता है। जब ब्रह्म क्रिया से असम्बद्ध होने के कारण न हेय है न उपादेय तब उसकी प्राप्ति अथवा ज्ञान को 'पुरुषार्थ' भी नहीं कहा जा सकता है। अत ब्रह्मज्ञान को 'परम पुरुषार्थ' सिद्ध करने के लिये उसे हेय या उपादेय अर्थात् विधिवाक्यों या निषेध वाक्यों का अग मानना होगा। अन्यथा उसका प्रतिपादन व्यर्थ हो जावेगा। यह मीमासकों के पूर्वपक्ष का अभिप्राय था। भाष्यकार अगली पक्तियों मे उसका खण्डन करते हुये लिखते है कि—

पूर्वपक्ष—और जो [मीमासकों ने उपनिषदों को ब्रह्मपरक मानने मे यह दोष दिया है कि हेय अथवा उपादेय से भिन्न [अर्थात् विधि प्रतिषेध के विषय से भिन्न] सिद्ध वस्तु रूप ब्रह्म का प्रतिपादन होने पर उपदेश [अर्थात् प्रतिपादन] व्यर्थ हो जावेगा।

उत्तरपक्ष—यह दोष ठीक नहीं है क्योंकि अहेय और अनुपादेय [अर्थात् विधि तथा प्रतिषेध का विषयभूत] ब्रह्म तत्त्व के साक्षात्कार से ही समस्त क्लेशो का नाश हो जाता है [और मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है] इसलिये सिद्ध वस्तु रूप ब्रह्म का उपदेश अनर्थक नहीं है। मीमासकों ने उपनिषदों मे आये हुये जीव और ब्रह्मपरक वाक्यों की संगति लगाने के लिये उन्हे कर्मकाण्ड मे अपेक्षित कर्त्ता और देवता का प्रतिपादक मानने का सुझाव दिया था। उसके सम्बन्ध मे भाष्यकार का कथन यह है कि

देवतादिप्रतिपादनस्य तु स्ववाक्यगतोपासनार्थत्वेऽपि न कश्चिद्विरोधः। न तु तथा ब्रह्मण उपासनाविधिशेषत्वं संभवति, एकत्वे हेयोपादेयशून्यतया क्रियाकारकादिद्वैतविज्ञानोपमर्दोपपत्तेः। न ह्येकत्वविज्ञानेनोन्मथितस्य द्वैतविज्ञानस्य पुनः संभवोऽस्ति, येनोपासनाविधिशेषत्वं ब्रह्मणः प्रतिपाद्येत। यद्यप्यन्यत्र वेदवाक्यानां विधिसंस्पर्शमन्तरेण प्रमाणत्वं न दृष्टं, तथाप्यात्मविज्ञानस्य फलपर्यन्तत्वान्न तद्विषयस्य शास्त्रस्य

स्ववाक्य अर्थात् उपनिषद्वाक्य मे आई हुई उपासनाओ के विषय मे तो जीवपरक और ब्रह्मपरक वाक्यो को कर्त्ता और देवता का प्रतिपादक माना जा सकता है किन्तु इससे ब्रह्म अर्थात् ईश्वर को उपासना विधि का अग नहीं माना जा सकता है क्योकि [ब्रह्म के] एकत्व विज्ञान तथा हेय उपादेयता से रहित होने के कारण क्रिया [कर्त्ता, कर्म आदि रूप] कारक के भेद-ज्ञान का नाश हो जाता है [इसलिये उपास्य उपासक अथवा कर्त्ता, कर्म आदि का भेद शेष न रहने से ब्रह्म को उपासनाविधि का अग नहीं कहा जा सकता है। यदि यह कहा जाय कि एक बार का अद्वैत का ज्ञान उपनिषद्वाक्यो द्वारा हो जाने पर भी उपास्य उपासक का भेद फिर भी बना रह सकता है अथवा फिर भी उत्पन्न हो सकता है इसलिये ब्रह्म को उपासना विधि का अग मानना ही चाहिये तो इसका उत्तर भाष्यकार यह देते है कि] अद्वैत के ज्ञान से नष्ट हुआ [उपास्य उपासक का] भेद फिर उत्पन्न नहीं हो सकता है जिससे कि ब्रह्म को उपासना विधि का अग माना जाय।

मीमांसको ने अपने पूर्वपक्ष म उपनिषदो मे सिद्ध ब्रह्म का प्रतिपादन मानने मे चौथा दोष यह दिखलाया था—कि अन्यत्र अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थो मे विधि वाक्य के साथ सम्बन्ध किये बिना वेदवाक्यों की सार्थकता नहीं पायी जाती है। इसलिये यहा उपनिषद् ग्रन्थो मे भी विधिसस्पर्श के बिना केवल सिद्ध वस्तु रूप ब्रह्म का प्रतिपादन सार्थक या सङ्गत नहीं हो सकता है इसलिये ब्रह्म का उपासनाविधि या कर्मविधि के अनुरूप मे ही मानना चाहिये। मीमासकों की इस उक्ति का भाष्यकार यह उत्तर देते है कि फिर भी [अर्थात् कर्मकाण्ड के प्रकरण मे विधिसस्पर्श के बिना सिद्ध वस्तु की अर्थवत्ता न देखी जाती है और न युक्तिसङ्गत है तो भी] आत्मज्ञान की समाप्ति फल अर्थात् मोक्षप्राप्ति मे ही होती है इसलिये उसका प्रतिपादन

प्रामाण्यं शक्यं प्रत्याख्यातुम् । न चानुमानगम्यं शास्त्र-प्रामाण्यं, येनान्यत्र दृष्टं निदर्शनमपेक्षेत।

तस्मात्सिद्धं ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वम् ।

करने वाले शास्त्र की प्रामाणिकता को चुनौती नहीं दी जा सकती [दूसरी बात यह भी है कि] शास्त्र की प्रामाणिकता अनुमान का विषय नहीं है [अपितु वेदादि शास्त्र स्वत प्रमाण हैं] जिससे कि अन्यत्र [अर्थात् कर्मकाण्ड के प्रकरण मे] पाये जाने वाले किसी उदाहरण की आवश्यकता पडे [अर्थात् यदि शास्त्र का प्रामाण्य अनुमान से साध्य होता तब तो अनुमान के पञ्चावयव वाक्य के अनुरूप मे दृष्टान्त या उदाहरण की आवश्यकता पड़ती किन्तु वेद का प्रामाण्य स्वत सिद्ध है] इसलिये उसको सिद्धि में अन्यत्र दृष्ट उदाहरण की आवश्यकता नहीं होती है।

इसलिये ब्रह्म का शास्त्र [उपनिषद् शास्त्र का] मुख्य प्रतिपाद्य विषय होना सिद्ध हो जाता है ।

प्रथम वर्णक का साराश—श्री भारतीतीर्थ ने अपनी वैयासक 'न्यायमाला' मे समन्वयाधिकरण के प्रथम वर्णक का साराश निम्न प्रकार लिया है—

'वेदान्ताः कर्तृदेवादिपरा ब्रह्मपरा उत ।
अनुष्ठानोपयोगित्वात्कर्त्रादि प्रतिपादका ॥
भिन्नप्रकरणाल्लिंगपट्काच्च ब्रह्मबोधकाः ।
सति प्रयोजनेऽनर्थहानेऽनुष्ठानतोऽत्र किम् ॥'

इसके अनुसार मीमासकों के पूर्वपक्ष को ध्यान मे रखकर यह सन्देह उठाया गया है कि वेदान्त अर्थात् उपनिषद्ग्रन्थ क्या कर्मकाण्ड मे अपेक्षित कर्ता और देवता के प्रतिपादक है अथवा स्वतन्त्ररूप से ब्रह्म का प्रतिपादन उनमे किया गया है। इस प्रकार का सन्देह उपस्थित होने पर पूर्वपक्ष यह बनाया है कि कर्मों के अनुष्ठान मे उपयोगी होने से जीवनपरक तथा ब्रह्मपरक उपनिषद्वाक्य केवल कर्ता और देवता के प्रतिपादक है स्वतन्त्ररूप से ब्रह्म का प्रतिपादन उनमे नहीं किया गया है इस पूर्वपक्ष का समाधान ग्रन्थकार ने अगले श्लोक मे किया है जिसका आशय यह है कि—

कर्म के प्रतिपादक ब्राह्मण ग्रन्थ तथा ब्रह्म के प्रतिपादक उपनिषद् ग्रन्थ दोनों के प्रकरण बिल्कुल भिन्न भिन्न है इसलिये ब्रह्म को किसी प्रकार कर्म का अङ्ग नहीं बनाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त (१) उपक्रम उपसहार (२) अभ्यास (३) अपूर्वता (४) फल (५) अर्थवाद तथा (६)

उपपत्ति इन छह लिङ्गो के द्वारा ब्रह्म ही उपनिषद् का मुख्य प्रतिपाद्यविषय ठहरता है और उसी के ज्ञान से मोक्षरूप परम पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है। इसलिये ब्रह्मज्ञान के बाद अनुष्ठान मे उसका विनियोग व्यर्थ है अत स्वतन्त्र-रूप से ही ब्रह्म का प्रतिपादन उपनिषदो मे किया गया है कर्म के शेषरूप मे नहीं। यह मीमासकों के मत का खण्डन हुआ अब आगे भाष्यकार वेदान्ती-वृत्तिकार [बोधायन या उपवर्ष] के मत का उल्लेख करके उसका खण्डन करेंगे —

वृत्तिकार का पूर्वपक्ष :—[द्वितीय वर्णक]

भाष्यकार उपनिषद् मे प्रतिपादित सिद्ध ब्रह्म को उसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय मानते है। इसके विरुद्ध उनके सामने दो विरोधी पक्ष उपस्थित है जो उपनिषद् मे प्रतिपादित ब्रह्मतत्त्व को उनका मुख्य प्रतिपाद्य विषय न मानकर कर्त्ता या देवता के प्रतिपादक रूप मे कर्मकाण्ड का अङ्ग अथवा स्ववाक्यगत अर्थात् उपनिषद्काण्ड मे आयी हुई उपासनाविधियो के अङ्गरूप मे ब्रह्म का प्रतिपादन मानते है। इनमे से पहला पक्ष मीमासको का है, जो कि उपनिषद् मे आये हुए जीव तथा ब्रह्मपरक वाक्यो की सङ्गति कर्मकाण्ड मे अपेक्षित कर्त्ता और देवता के प्रतिपादक वाक्यो के रूप मे लगाना चाहते हैं। इस मत का खण्डन भाष्यकार ने यहाँ तक भली प्रकार कर दिया है। अब दूसरा पक्ष शेष रह जाता है जो कि जीव और ब्रह्मपरक वाक्यों को स्ववाक्यगत उपासना-विधि के अङ्गरूप मे मानता है। यह मत स्वय वेदान्तियो के एक सम्प्रदाय का है। भाष्यकार के पहले ब्रह्मसूत्रों पर 'बोधायन' ने एक वृत्ति लिखी थी। आचार्य बोधायन भक्तिमार्ग को मानने वाले हैं। उनके मत मे ब्रह्मज्ञान ही पर्याप्त नहो है, बल्कि उपनिषदादि को पढकर उसके बाद उपासना की भी आवश्यकता है, केवल ब्रह्मज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है; अपितु ब्रह्मज्ञान के बाद की गई उपासना से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। इसीलिये उपनिषद् ने 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो, मन्तव्यो, निदिध्यासितव्य' इत्यादि वाक्यो द्वारा आत्मदर्शन अथवा ब्रह्मसाक्षात्कार के साधनरूप मे श्रवण, मनन और निदिध्यासन का प्रतिपादन किया गया है। इसीलिये वृत्तिकार—आचार्य बोधायन [अन्य टीकाकारो ने 'उपवर्ष' नाम से वृत्तिकार का निर्देश किया है] उपनिषद् प्रतिपाद्य ब्रह्मतत्त्व को उपासनाविधि के अङ्गरूप मे ही मानते है, किन्तु भाष्यकार इसके विपरीत है। वे ज्ञानमार्ग के अनुयायी है उनके मत मे ब्रह्मज्ञान के बाद निदिध्यासन या उपासना आदि अन्य किसी कार्य की आवश्यकता नहीं रहती है। 'श्रोतव्यो मन्तव्यः निदिध्यासितव्य.' इत्यादि

उपनिषद्वाक्यो मे जो श्रवण, मनन, तथा निदिध्यासन को आत्मसाक्षात्कार का हेतु बतलाया है वह आत्मसाक्षात्कार से पहले ही सङ्गत होता है। आत्मसाक्षात्कार के बाद मनन और निदिध्यासन आदि की आवश्यकता नहीं रहती है इसलिये ब्रह्मज्ञान को उपासनाविधि का अङ्ग न मानकर स्वतन्त्ररूप से ब्रह्म का प्रतिपादन उपनिषदो ने किया है यह सिद्धान्तमानना चाहिये। यह भाष्यकार का मत है।

ब्रह्मसाक्षात्कार के तीन अङ्ग—

ऊपर हम यह लिख चुके हैं कि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य.' इत्यादि उपनिषद् वाक्य मे आत्मदर्शन या ब्रह्मसाक्षात्कार को जीवन का लक्ष्य बतलाया है। और उसकी प्राप्ति के लिये 'श्रोतव्यो, मन्तव्यो, निदिध्यासितव्यः' इत्यादि के द्वारा श्रवण, मनन और निदिध्यासन इन तीन साधनो का वर्णन किया है। ये तीन साधन विशेष प्रयोजन से माने गये है। किसी भी वस्तु का साक्षात्कारात्मक ज्ञान प्राप्त करने मे तीन प्रकार के बाधक उपस्थित हो सकते है—(१) असम्भावना (२) विपरीत भावना और (३) तीसरा है पारोक्ष। इन तीनों दोषो की निवृत्ति होने पर ही वस्तु के साक्षात्कारात्मक ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं। इनमे से पहला दोष है असम्भावना। इसका भाव यह है कि यदि हम किसी वस्तु का अस्तित्व ही न माने, उसके अस्तित्व को ही असम्भव बतावे, तब फिर असम्भव वस्तु के साक्षात्कार का कोई यत्न नहीं किया जा सकता है। वस्तु के साक्षात्कार का प्रयत्न वहीं से प्रारम्भ होगा जब कि हम वस्तु के अस्तित्व को असम्भावना मे रहित मान ले, इसलिये असम्भावना दोष की निवृत्ति, आत्मसाक्षात्कार की पहली सीढी है। इसीलिये उपनिषद् ने आत्मसाक्षात्कार के साधन रूप मे सबसे पहले असम्भावना दोष की निवृत्ति के लिये 'श्रोतव्यः' अर्थात् श्रवण का प्रतिपादन किया है। 'श्रोतव्य श्रुतिवाक्येभ्य' ब्रह्म या आत्मतत्त्व का श्रवण उपनिषदादि श्रुतिवाक्यो के द्वारा ही होता है। इस श्रवण से आत्मा या ब्रह्म का सामान्य ज्ञान ही होता है अर्थात् आत्मा या ब्रह्म का अस्तित्व है, यह बात श्रुतिवाक्यो से 'श्रवण' करने के बाद ज्ञात होती है और उससे ब्रह्मविषयक 'असम्भावना' अर्थात् ब्रह्म या आत्मा कुछ है ही नहीं इस भावनारूप दोष की निवृत्ति होती है और आत्मसाक्षात्कार के मार्ग में आने वाले असम्भावनारूप प्रथम दोष की निवृत्ति होकर साधक की प्रवृत्ति आत्मसाक्षात्कार के मार्ग मे होने लगती है।

आत्मसाक्षात्कार के मार्ग मे दूसरा बाधक है 'विपरीत भावना'। यदि आत्मा के विषय मे शरीर ही आत्मा है, इन्द्रियाँ अथवा मन ही आत्मा है, इस प्रकार

की उल्टी भावना हो जाय तो इसे 'विपरीत भावना' कहते है और यह विपरीत भावना भी किसी वस्तु के साक्षात्कार अथवा आत्म-साक्षात्कार मे बाधक बन जाती है। जब हम शरीर को ही आत्मा समझेगे तो शरीर से भिन्न नित्य आत्मतत्त्व के साक्षात्कार के लिये प्रयत्नशील नहीं हो सकते। जैसे चार्वाक आदि आत्मा को न मानने वाले नास्तिक लोग आत्मसाक्षात्कार के मार्ग मे कभी भी प्रवृत्त नहीं होते। अतएव यह विपरीत भावना भी आत्मसाक्षात्कार के मार्ग मे आने वाला दूसरा दोष है। इसीकी निवृत्ति के लिये उपनिषद् वाक्य मे श्रोतव्य के बाद 'मन्तव्यः' अर्थात् श्रवण के बाद 'मनन' का निर्देश किया है कि यह 'मनन' 'मन्तव्यश्चो पपत्ति' उपपत्ति अर्थात् सिद्धान्ताविरोधी युक्तियो के द्वारा होता है। उससे विपरीत भावना की निवृत्ति होकर आत्मा या ब्रह्म कुछ है इस प्रकार का ब्रह्म का सामान्य ज्ञान होता है किन्तु ब्रह्म के विशेष स्वरूप का साक्षात्कारात्मक ज्ञान 'मनन' के द्वारा प्राप्त नहीं होता। इसीलिये उपनिषद् ने 'मनन के बाद 'निदिध्यासन' को आवश्यक बतलाया है।

आत्मा के साक्षात्कार मे तीसरा बाधक है 'पारोक्ष्य'। शब्द और अनुमान द्वारा किसी वस्तु का जो ज्ञान होता है वह परोक्ष ज्ञान ही होता है साक्षात्कारात्मक ज्ञान प्रायः नहीं होता। और परोक्षज्ञान से न जिज्ञासा की निवृत्ति होती है और न आत्मतृप्ति। उसके बाद साक्षात्कारात्मक ज्ञान की आवश्यकता बनी ही रहती है। जैसे भूगोल को पढ़कर हम किसी दूरवर्त्ती देश का ज्ञान प्राप्त कर लेते है अथवा किसी व्यक्ति के मुह से हम किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं किन्तु वह ज्ञान परोक्ष ही होता है, साक्षात्कारात्मक नहीं। इसलिये शब्द या अनुमान आदि प्रमाणों द्वारा [जिनकी चर्चा उपनिषद्वाक्य मे 'श्रोतव्यो, मन्तव्य' के रूप मे की गई है] ब्रह्म का जो ज्ञान होता है वह परोक्षज्ञान ही होता है। उसके बाद भी ब्रह्मसाक्षात्कार की आवश्यकता बनी रहती है इसीलिये उपनिषद् ने 'श्रोतव्यः मन्तव्य' के बाद 'निदिध्यासितव्य' के रूप मे 'निदिध्यासन' का वर्णन किया है और वह निदिध्यासन आत्मसाक्षात्कार के मार्ग मे आनेवाले 'पारोक्ष्यरूप' तीसरे दोष का नाश करता है। इस प्रकार तीनो बाधको का निवारण हो जाने पर ही आत्मसाक्षात्कार की प्राप्ति हो सकती है। इसीलिये उपनिषद्वाक्य ने 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' आत्मदर्शन के साधनरूप मे श्रवण, मनन और निदिध्यासन इन तीन साधनो का निर्देश 'श्रोतव्यो, मन्तव्यो, निदिध्यासितव्य' इत्यादि वाक्य के द्वारा किया है। उनसे क्रमशः असम्भावना, विपरीतभावना तथा पारोक्ष्य दोषो की निवृत्ति होकर आत्मसाक्षात्कार की प्राप्ति होती है और यह आत्मसाक्षात्कार ही मोक्ष है।

यह भाष्यकार का मत है। इसलिये उनके सिद्धान्त मे आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्मज्ञान के बाद उपासनादि किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं रहती है। श्रोतव्यः मन्तव्यः इत्यादि मे जो श्रवण, मनन और निदिध्यासन को आत्मदर्शन का साधन बताया है वह अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति से पहिले ही लागू होता है, उसके बाद नहीं। यहीं पर वृत्तिकार और भाष्यकार का मतभेद है। वृत्तिकार आत्मसाक्षात्कार के साधनरूप मे श्रवण, मनन और निदिध्यासन की आवश्यकता मानते है इसीलिये ब्रह्मज्ञान के बाद अर्थात् श्रुति वाक्यो द्वारा प्राप्त ब्रह्म के परोक्ष ज्ञान के बाद निदिध्यासन अर्थात् उपासना आवश्यक बतलाते है और यही उनके भक्तिमार्ग का बीज है। इसके विपरीत भाष्यकार आत्मसाक्षात्कार की स्थिति से पहले ही श्रवण, मनन और निदिध्यासन की उपयोगिता मानते है उसके बाद नहीं इसलिये उनके यहा ब्रह्मज्ञान के बाद मनन और निदिध्यासन आदि कोई आवश्यकता नहीं रहती, ब्रह्मज्ञान ही अन्तिम फल या मोक्षरूप परम पुरुषार्थ है यही उनके ज्ञानमार्ग का साराश है।

'तत्तु समन्वयात्' सूत्र की व्याख्या मे भाष्यकार ने पहले मीमासको का एक पूर्वपक्ष उपस्थित किया था और उसका खण्डन भी वे विस्तार के साथ कर चुके हैं। अब अपने दूसरे विरोधी पक्ष का खण्डन करने जा रहे है। खण्डन करने से पहले वे 'अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्ते' यहा से भक्तिमार्गीय वृत्तिकार के मत का स्थापन करेगे और उसके बाद फिर 'अत्राभिधीयते' से उसका खण्डन प्रारम्भ करेगे। यहा 'अपरे' शब्द का विशेप अर्थ है। वैसे अपरे का अर्थ दूसरे होता है किन्तु टीकाकारो ने 'न परे अपरे स्वीया. इत्यर्थ' इस प्रकार की व्याख्या 'अपरे' शब्द की है। और उसमे 'स्वीय' अर्थात् वेदान्त-सूत्रो के वृत्तिकार आचार्य बोधायन या उपवर्ष का ग्रहण किया है। ये वृत्तिकार भक्तिमार्ग के अनुयायी हैं और भाष्यकार ज्ञानमार्ग के। इन दोनो मार्गों के बीच जो सूक्ष्मभेद है वह हमने ऊपर दिखला दिया है अर्थात् भक्तिमार्ग मे ब्रह्मज्ञान या आत्मसाक्षात्कार के पूर्व निदिध्यासन आवश्यक है और ज्ञानमार्ग मे ब्रह्मज्ञान के पहले-पहले ही मनन और निदिध्यासन की आवश्यकता होती है उसके बाद नहीं। इसका अभिप्राय यह है कि भाष्यकार के मत मे शब्द प्रमाण से भी साक्षात्कारात्मक ज्ञान उत्पन्न हो सकता है। इस मत का प्रतिपादन हम इसके पहिले कर चुके हैं। किन्तु वृत्तिकार के मत मे केवल शब्दप्रमाण से साक्षात्कारात्मक ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है। शब्द से केवल परोक्ष ज्ञान होता है इसलिये उनके यहा शब्दप्रमाण से ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर भी उसकी परोक्षता को दूर करने के निमित्त निदिध्यासन की आवश्यकता होती

अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्ते—यद्यपि शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्म तथापि प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रेण ब्रह्म समर्प्यते। यथा यूपाहवनीयादीन्यलौकिकान्यपि विधिशेषतया शास्त्रेण समर्प्यन्ते तद्वत्।

कुत एतत ?

प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनत्वाच्छास्त्रस्य। तथाहि शास्त्र-

है। भक्तिमार्ग के सिद्धान्त का खण्डन करने के लिये भाष्यकार पहले 'अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्ते' से उनके पूर्वपक्ष को निम्न प्रकार प्रस्तुत करते है—

पूर्वपक्ष—[ब्रह्म ही स्वतन्त्ररूप मे उपनिषदो का प्रतिपाद्य विषय है।] इस विषय मे [न परे अपरे स्वीया इत्यर्थ] अपने मत के अनुयायी [अर्थात् वृत्तिकार वेदान्ती] इस प्रकार पूर्वपक्ष करते है कि यद्यपि ब्रह्म का प्रतिपादन शास्त्र मे किया गया है तथापि वह उपासनाविधि के अगरूप मे ही है जैसे कर्मकाण्ड मे अलौकिक [अर्थात् केवल वेद मे प्रसिद्ध या परिभाषित] 'यूप' [अर्थात् यज्ञीयस्तम्भविशेष] और आहवनीय [विशेष प्रकार की यज्ञाग्नि] विधि के अगरूप मे ही शास्त्र द्वारा प्रतिपादित किये जाते है [इसी प्रकार ब्रह्म का भी प्रतिपादन उपासनाविधि वाक्य के अंगरूप मे ही किया गया है।]

प्रश्न—['शासनात् शास्त्र' इस व्युत्पत्ति के अनुसार] प्रवृत्ति और निवृत्ति कराना ही शास्त्र का प्रयोजन है [इसके विपरीत स्वतन्त्र ब्रह्म को मानने से शास्त्र का शास्त्रत्व ही नहीं रहेगा तब फिर ऐसा क्यो मानते हैं ? अर्थात् सिद्ध ब्रह्म को स्वतंत्र-रूप से उपनिषदो का मुख्य प्रतिपाद्य विषय मानना उचित नहीं है। क्रियारहित केवल सिद्ध ब्रह्म को मुख्य प्रतिपाद्य विषय मानने पर तो उपनिषदो का 'शास्त्रत्व' ही नष्ट हो जायेगा क्योंकि 'शासनात् शास्त्र' किसी विषय मे प्रवृत्ति या निवृत्तिरूप 'शासन' करने से शास्त्रो को 'शास्त्र' कहा जाता है। जब सिद्ध ब्रह्म का उपदेश उपनिषदो मे मानेगे और वह प्रवृत्ति निवृत्ति का विषय नहीं रहेगा तो फिर उसके प्रतिपादक उपनिषद् ग्रन्थो मे 'शासनात् शास्त्र' यह शास्त्र शब्द का लक्षण भी नहीं घटेगा जिसके फलस्वरूप उनका शास्त्रत्व ही नष्ट हो जावेगा। अत ब्रह्म को उपासनाविधि के अङ्गरूप मे ही उपनिषद् मे प्रतिपादन किया गया है।

वृत्तिकार ने पूर्वमीमासा और उत्तरीममासा दोनो को मिलाकर एक शास्त्र माना है। पूर्वमीमासा मे १२ अध्याय है और उत्तरमीमासा अर्थात् वेदान्त मे

तात्पर्यविद आहुः—'दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्' इति। 'चोदने'ति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनम्। 'तस्य ज्ञानमुपदेशः—' (जै० सू० १।१।५)। 'तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः—' (जै० सू० १।१।२५) 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्—' (जै० सू० १।२।१) इति च। अतः पुरुषं

---

४ अध्याय हैं। वृत्तिकार ने इन १२ तथा ४ को मिलाकर मीमासाशास्त्र के १६ अध्याय माने है इसीलिये पूर्वमीमासा और उत्तरमीमांसा को अलग-अलग न मानकर सोलह अध्याय वाला मीमासाशास्त्र माना है। जैसा कि श्रीरामानुज भाष्य मे लिखा है। "वक्ष्यति च कर्म ब्रह्ममीमासयोरैकशास्त्र सहितमेतच्छारीरक जैमिनीयेन पोडशलक्षणेनेति शास्त्रैकत्वसिद्धिरिति अतः प्रतिपिपादयिषितार्थभेदेन षट्भेदवदध्यायभेदवच्च पूर्वोत्तरमीमांसयोर्भेदः।" इसीलिये वृत्तिकार ने पूर्वमीमासा की शैली का ही अवलम्बन कर उत्तरमीमासा अर्थात् वेदान्त की व्याख्या करने का यत्न किया है किन्तु भाष्यकार की दृष्टि मे वह फल उचित नहीं है।

आगे वृत्तिकारकी ओर से इसका उत्तर देंगे जिसमे मीमासा की पद्धति से ही उपनिषद् ग्रन्थो मे भी यहां विचार करने की बात कही जावेगी। यह सब वृत्तिकार का पूर्वपक्ष होगा। उसके बाद भाष्यकार उसका उत्तर करेंगे जिसका आशय यह होगा कि मीमासा और वेदान्त दोनो का प्रकरण भिन्न है ओर विचारविन्दु भिन्न है इसलिये मीमांसा वाले सिद्धान्तो को यहाँ लागू करना उचित नहीं है। भाष्यकार ने 'अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्ते' इससे वृत्तिकार के पूर्वपक्ष को ही अधिक स्पष्ट करने के लिये बीच मे "कुत एतत्" वाला प्रश्न उन्होने उठाया है। उसके उत्तर द्वारा वे वृत्तिकार के पूर्वपक्ष को ही और स्पष्ट रूप से बताते हुये आगे लिखते है कि—

वृत्तिकार का स्वमत स्पष्टीकरण—

उत्तर—जैसा कि मीमासा शास्त्र के तात्पर्य को समझने वाले [मीमासा सूत्रकार जैमिनि तथा उनके भाष्यकार शबरस्वामी] कहते हैं।

[पूर्वमीमासा ग्रन्थ मे उसके सूत्रकार महर्षि जैमिनि सारे शास्त्र को विधि या प्रतिषेधात्मक क्रिया का प्रतिपादक सिद्ध करते हुये कई सूत्र निम्न प्रकार दिये है] उस [अर्थात् वेद] का प्रयोजन कर्मकाण्ड का बोध कराना ही है। क्योंकि 'चोदना' क्रिया मे प्रवर्त्तक वचन को ही कहते हैं। उस [अर्थात् 'चोदना' अर्थात् प्रेरणा करने वाले वाक्य का] ज्ञापक उपदेश [अर्थात् वेद है]

क्वचिद्विषयविशेषे प्रवर्तयत् कुतश्चिद्विषयविशेषान्निवर्त्तयच्चार्थवच्छास्त्रम्। तच्छेषतया चान्यदुपयुक्तम्। तत्सामान्याद्वेदान्तानामपि तथैवार्थवत्त्वं स्यात्। सति च विधिपरत्वे यथा स्वर्गादिकामस्याग्निहोत्रादिसाधनं विधीयत एवममृतत्वकामस्य ब्रह्मज्ञानं विधीयत इति युक्तम्।

(जै० सू० १।१५)। इसलिये [यदि सिद्ध वस्तु का प्रतिपादन कहीं वेद मे मिलता है तो वह] सिद्ध वस्तुओं का प्रतिपादन किसी क्रिया के निमित्त ही होता है (जै० सूत्र १।१।२५)। वेदभाग क्रिया के बोधन के लिये ही है [जो वेदभाग] कर्म को बोधन नहीं करता है वह निरर्थक है (जै० सूत्र १।२।१)। इसलिये पुरुष को किसी कर्मविशेष मे प्रवृत्त कराने वाला अथवा किसी कर्मविशेष से निवृत्त कराने वाला ['शासनात शास्त्रम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार] शास्त्र कहलाता है और अन्य [अर्थात् ब्रह्मसहित समस्त सिद्ध वस्तुओं का प्रतिपादन] का उपयोग उस [विधि या निषेध] के अगरूप मे ही हो सकता है। उसी के [अर्थात् मीमासा की प्रक्रिया के] समान वेदान्त [अर्थात् उपनिषदों] की सार्थकता भी उसी प्रकार [अर्थात् सारे उपनिषदो को विधिपरक और उसमे प्रतिपादित ब्रह्म जैसे सिद्ध पदार्थों को किसी विधि के अगरूप मे मानकर] हो सकता है। जब [उपनिषदो को] विधिपरक मान लेते है तो [मीमासा की प्रक्रिया मे] जैसे स्वर्गप्राप्ति आदि की कामना करने वाले के लिये यागादिरूप साधनो का विधान [ब्राह्मण ग्रन्थों मे] किया गया है। इसी प्रकार अमृतत्व [अर्थात् मोक्ष] को चाहने वाले के लिये [उपनिषदो मे] ब्रह्मज्ञान का विधान किया गया है [इसलिये पूर्वमीमासा और उत्तरमीमासा अर्थात् वेदान्त की विचारशैली की समानता को ध्यान मे रखकर उपनिषद् प्रतिपाद्य ब्रह्म को उपासनाविधि का अग ही मानना चाहिये] यह कहना उचित ही है।

वृत्तिकार के मत के स्पष्टीकरणार्थ उस पर एक शंका—ऊपर हमने यह देखा है कि वृत्तिकार ने अपने मत का प्रतिपादन मुख्यत. मीमांसा-दर्शन की विचारशैली के अनुसार किया है।

(१) जैसे पूर्वमीमासा मे समस्त वेदभाग का विधि या निषेधरूप किसी न किसी प्रकार की क्रिया के साथ सम्बन्ध जोड़कर उसकी सार्थकता का उपपादन करते हैं उसी प्रकार वृत्तिकार ने समस्त उपनिषद्वाक्यों को 'प्रतिपत्ति विधि' अर्थात् उपासनाविधि के साथ जोड़कर उसकी सार्थकता का उपपादन किया है।

ननु इह जिज्ञास्यवैलक्षण्यमुक्तम्—कर्मकाण्डे भव्यो धर्मो जिज्ञास्यः इह तु भूतं नित्यनिर्वृत्तं ब्रह्म जिज्ञास्यमिति । तत्र धर्मज्ञानफलादनुष्ठानापेक्षाद्विलक्षणं ब्रह्मज्ञानफलं भवितुमर्हति ।

नार्हत्येवं भवितुम् । कार्यविधिप्रयुक्तस्यैव ब्रह्मणः प्रतिपाद्यमानत्वात् । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृह० २।४।५)

---

(२) जैसे पूर्वमीमांसा मे 'शासनात् शास्त्रम्' यह 'शास्त्र' शब्द की व्युत्पत्ति मानकर समस्त शास्त्र को 'शासन करनेवाला' अर्थात् विधिपरक या निषेधपरक माना गया है । वृत्तिकार भी उसी प्रकार की 'शास्त्र' शब्द-की व्युत्पत्ति करते हैं और उसमे आये हुये 'ब्रह्म' आदि सिद्ध पदार्थों को उन विधिवाक्यो का अंग बनाकर उनकी सार्थकता का उपपादन करते है ।

इस प्रकार वेदान्तसूत्रो की व्याख्या मे वृत्तिकार ने जो मीमासा की विचारशैली का अनुसरण किया है उससे भाष्यकार सहमत नहीं है । उसका खण्डन वे आगे करेंगे । उसी खण्डन की भूमिका बनाने के लिये भाष्यकार, वृत्तिकार के पूर्वोक्त मत एवं विचारशैली के विपरीत उसके ऊपर शङ्का उठाते हैं । शका उठाने के बाद वे स्वय वृत्तिकार की ओर से उसका उत्तर देंगे । इससे वृत्तिकार के मत का और अधिक स्पष्टीकरण हो जावेगा । उसके बाद वे [भाष्यकार] वृत्तिकार के मत का उपसहार करके फिर उसका खण्डन प्रारम्भ करेंगे । यह उनकी आगे की विचार प्रक्रिया है । इसमे सबसे पहले भाष्यकार, वृत्तिकार के पूर्वोक्त मत के ऊपर शका उठाते हुए लिखते है कि—

भाष्यकार की शंका—अच्छा यहा अर्थात् वेदान्तदर्शन मे तो जिज्ञास्य [अर्थात् पूर्वमीमासा तथा वेदान्त के प्रतिपाद्य विषय] का भेद [इसके पूर्वपृष्ठ पर दिखला चुके है [और वह भेद यह है कि] कर्मकाण्ड मे 'भव्य' [अर्थात् आगे उत्पन्न होने वाला, धर्मज्ञान के समय अविद्यमान] धर्म, जिज्ञास्य [अर्थात् प्रतिपाद्य विषय है] और यहा [अर्थात् वेदान्त मे] नित्यसिद्ध ब्रह्म जिज्ञास्य है इसलिये [ज्ञान के बाद भी] अनुष्ठान की अपेक्षा रखने वाले धर्मज्ञान से [ज्ञान के बाद अनुष्ठान की अपेक्षा न रखने वाले] ब्रह्मज्ञान का फल भिन्न मानना चाहिये ।

वृत्तिकार का उत्तर—ऐसा नहीं हो सकता है क्योंकि [वेदान्त मे] उपासनाविधि के अगरूप मे ही ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है जैसे (१) अरे ! इस आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिये (बृहदा० २।४।५)

इति । 'य आत्माऽपहतपाप्मा-सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' । (छन्दो० ८।७।१) । 'आत्मेत्येवोपासीत' (बृ० १।४।७) । 'आत्मानमेव लोकमुपासीत' (बृ० १।४।१५) 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' (मुण्ड० ३।२।९) इत्यादिविधानेषु सत्सु कोऽसावात्मा किं तद् ब्रह्म इत्याकाङ्क्षायां तत्स्वरूपसमर्पणेन सर्वे वेदान्ता उपयुक्ताः—'नित्यः सर्वज्ञः सर्वगतो नित्यतृप्तो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्येवमादयः । तदुपासनाच्च शास्त्रदृष्टोऽदृष्टो मोक्षः फलं भविष्यतीति । कर्त्तव्यविध्यननुप्रवेशे वस्तुमात्रकथने हानोपादानासंभवात् , सप्तद्वीपा वसुमती, राजासौ गच्छतीत्यदिवाक्यावद्वेदान्तवाक्यानामानर्थक्यमेव स्यात् । ननु वस्तुमात्रकथनेऽपि रज्जुरियं नायं सर्प

---

(२) जो आत्मा समस्त दोषो से रहित है उसकी खोज करनी चाहिये और उसकी जिज्ञासा करनी चाहिये (छान्दोग्यो० ८।७।१) (३) आत्मा की ही उपासना करनी चाहिये (छा० ८।७।१) (४) लोक की आत्मारूप मे ही उपासना करनी चाहिये (बृ० १।४।७) (५) ब्रह्म को जाननेवाला स्वय ब्रह्मरूप हो जाता है (बृ० १।४।१५) इत्यादि विधानो के होने पर यह आत्मा कौन है ? यह ब्रह्म कौन है ? ऐसी जिज्ञासा उपस्थित होने पर उसके निवारणार्थ [जीव और ब्रह्म के स्वरूप] ब्रह्म नित्य, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, नित्य तृप्त, नित्यशुद्ध, नित्यबुद्ध और नित्यमुक्त स्वभाव विज्ञानस्वरूप एव आनन्दस्वरूप है । इत्यादि सारे वेदान्तो का उपयोग होता है । और उस [ब्रह्म] की उपासना से शास्त्र मे प्रतिपादित [किन्तु लोक मे] अदृष्ट मोक्षरूप फल की प्राप्ति होती है । [उपनिषद् प्रतिपाद्य ब्रह्म के साथ] कर्तव्यविधि का सम्बन्ध जोड़े बिना केवल वस्तुमात्र के कथन करने से उसके हेय और उपादेय [अर्थात् विधि और प्रतिषेध का विषय न बन सकने के कारण सप्तद्वीपा वसुमती, राजासौ गच्छतीत्यादि वाक्यों के समान [सिद्ध ब्रह्म प्रतिपादन] वाक्यों की निरर्थकता प्राप्त होगी । अतः उपनिषदो मे केवल ब्रह्म का प्रतिपादन न मानकर उपासनाविधि के अंगरूप मे ही ब्रह्म का प्रतिपादन मानना चाहिये यह वृत्तिकार के मत का अभिप्राय है । आगे वृत्तिकार के मत के और अधिक स्पष्टीकरण के लिये भाष्यकार उसके ऊपर

इत्यादौ भ्रान्तिजनितभीतिनिवर्तनेनार्थवत्त्वं दृष्टं तथेहाप्यसंसार्यात्मवस्तुकथनेन संसारित्वभ्रान्तिनिवर्तनेनार्थवत्त्वं स्यात् ।

स्यादेतदेवं, यदि रज्जुस्वरूपश्रवण इव सर्पभ्रान्ति-संसारित्वभ्रान्तिर्ब्रह्मस्वरूपश्रवणमात्रेण निवर्तेत । न तु निवर्तते, श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं सुखदुःखादिसंसारिधर्मदर्शनात् , 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृह० २।४।५ इति च श्रवणोत्तरकालयोर्मनननिदिध्यासनयोर्विधिदर्शनात् । तस्मात्प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्माभ्युपगन्तव्यमिति ।

फिर शंका उठाते हुये कहते है कि]—भाष्यकार की ओर से दूसरी शङ्का—अच्छा, जैसे यह रस्सी है सर्प नहीं है इत्यादि रूप मे वस्तुमात्र के कथनमात्र मे भी भ्रान्ति से उत्पन्न भय की निवृत्ति देखी जाती है। इसी प्रकार [उपनिषदों मे] असंसारी [अर्थात् सुखदुःखादि लौकिक धर्मों से रहित आत्मा के स्वरूप प्रतिपादन द्वारा उसमे] संसारित्व [अर्थात् लौकिक सुखदुःखमय होने] की भ्रान्ति का नाश हो सकता है [इसलिये केवल वस्तुभूत विधि संस्पर्शरहित ब्रह्म का प्रतिपादन भी सार्थक हो सकता है ।

वृत्तिकार का उत्तर—यह बात तब कही जा सकती थी कि जब 'रज्जुरियं, नाय सर्पः' इस रूप मे वस्तु के स्वरूप मात्र कथन से जैसे भय की निवृत्ति हो जाती है इसी प्रकार के स्वरूप के श्रवण मात्र से ससारित्व [सुखदुखादि युक्तत्व] की भ्रान्ति निवृत्त हो जाती किन्तु वह [ब्रह्म के स्वरूप के श्रवण मात्र से] निवृत्त नहीं होती है क्योंकि ब्रह्म का श्रवण मात्र कर लेने के बाद भी ससारित्व सुख दुःख युक्तत्व बना ही रहता है और इसीलिये 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादि वाक्यों मे श्रवण के बाद होने वाले मनन और निदिध्यासन अर्थात् ब्रह्मोपासना का विधान पाया जाता है अतएव [इस सबका फलितार्थ यह निकलता है कि] 'शास्त्र प्रतिपत्तिविधि' अर्थात् उपासनाविधि के अगरूप मे ही ब्रह्म का प्रतिपादन करते है [विधि संस्पर्श सहित केवल शुद्ध ब्रह्म का प्रतिपादन शास्त्रों मे नहीं हो सकता है यह वृत्तिकार का अभिप्राय है]

ऊपर के विवरण मे पृष्ठ ९५ पर दिये हुये 'अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्ते' से लेकर 'अत्राभिधीयते' पृष्ठ १०२ तक भाष्यकार ने उपासना मार्गीय वृत्तिकार के मत को प्रस्तुत किया है। उसे अधिक स्पष्टीकरण के लिये बीच बीच मे

उन्होने अपने मत के अनुसार दो शकाये उठायी हैं और फिर वृत्तिकार की ओर से उनका खण्डन किया है। इस प्रकार यहाँ तक वृत्तिकार के मत को उन्होने जितना सम्भव था खोलकर प्रस्तुत करने का यत्न किया है। अब आगे वे ज्ञान मार्ग के अनुयायी अपने मत की ओर से वृत्तिकार की सारी बातो का विस्तार से खण्डन करेंगे। वृत्तिकार ने अपने मत की जो पहले स्थापना की है उसका आधार पूर्वमीमांसा की विचार प्रक्रिया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार पूर्व मीमासा मे सारे वेद को क्रियापरक ही माना गया है सिद्ध वस्तु की सार्थकता किसी क्रिया के साथ उसका सम्बन्ध जोड कर ही हो सकती है। इसी प्रकार यहाँ अर्थात् वेदान्त मे भी क्रिया की प्रधानता और ब्रह्मादि सिद्ध पदार्थों का किसी क्रिया के अनुरूप मे ही प्रतिपादन मानना चाहिये। कर्मकाण्ड का विषय न मानने मे यहाँ किसी अन्य क्रिया का प्रतिपादन तो माना नहीं जा सकता इसलिये जीव और ब्रह्मपरक सिद्ध अर्थ के बोधक वाक्यो को 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' आत्मानमेवलोकमुपासीत इत्यादि उपासनाविधियो के अगरूप मे ही मानने चाहिये। इसलिये वृत्तिकार ने अपने मत की स्थापना के प्रारम्भ मे भी और अन्त मे भी 'तस्मात्प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रेण ब्रह्म समर्प्यते' अर्थात् उपासनाविधि के अगरूप मे ही शास्त्र के द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है, यह बात कही है अर्थात् वृत्तिकार के मत की आधारभित्ती वेदान्तदर्शन और मीमासादर्शन दोनों की स्थिति की समानता है। पर भाष्यकार इससे सहमत नहीं हैं। इसलिये वे वृत्तिकार के मत के मूलाधार को ही नष्ट करने के लिये पहले वेदान्त तथा मीमासा की स्थिति मे भेद दिखलायेंगे और उसके लिये निम्नाङ्कित हेतु प्रस्तुत करेंगे। जिसमे सबसे पहले (१) कर्म ब्रह्मविद्या-फलयोर्वैलक्षण्यात्। यह हेतु है। इसका आशय यह है कि 'कर्मविद्या अर्थात् पूर्वमीमासा' और 'ब्रह्मविद्या उत्तरमीमासा या वेदान्त' के फल भिन्न हैं। इसलिये उन दोनो के व्याख्या से भी भेद मानने चाहिये इसलिये वृत्तिकार ने जो दोनों की समानता मानकर अपने मत की स्थापना की है वह उचित नहीं है। कर्म-विद्या और ब्रह्मविद्या का भेद दिखलाते हुये भी उन्होने कुछ हेतु प्रस्तुत किये है जिनमे पहली बात यह है कि कर्मविद्याका फल धर्म भव्य अर्थात् उत्पाद्य है और ब्रह्मविद्या का फल मोक्ष है जो वेदान्त मत मे ब्रह्म मे स्वत सिद्ध है। बन्धन केवल नाम है। दूसरी बात यह कही है कि कर्मविद्या का फल सुखदुःखादि शरीर के द्वारा ही भोगा जाता है किन्तु ब्रह्मविद्या के फलरूप मोक्ष का शरीर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। उल्टा शरीर सम्बन्ध उसमे बाधक है। तीसरी बात यह है कि कर्मविद्या के फलरूप सुखदुःख मे तारतम्य पाया जाता है अर्थात्

अत्राभिधीयते, न । कर्मब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यात् । शारीरं वाचिकं मानसं च कर्म श्रुतिस्मृतिसिद्धं धर्माख्यं, यद्विषया जिज्ञासा 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (जै० सू० १।१।१) इति सूत्रिता । अधर्मोऽपि हिंसादिः प्रतिषेधचोदनालक्षणत्वाज्जिज्ञास्यः परिहाराय । तयोश्चोदनालक्षणयोरर्थानर्थयोर्धर्माधर्मयोः

किसी को कम सुख और किसी को अधिक सुख मिलता है पर ब्रह्मविद्या के फलरूप मोक्ष मे किसी प्रकार का तारतम्य नहीं है। मोक्ष का स्वरूप सबके लिये समान है। चौथी बात यह है कि फल मे तारतम्य होने के कारण ही कर्मविद्या के अधिकारियो मे भी तारतम्य है। किसी कर्म का अधिकारी साधारण ब्राह्मण आदि और राजसूयादि किन्हीं कर्मो का अधिकारी राजा आदि विशेष व्यक्ति ही होता है इसलिये भी कर्मविद्या और ब्रह्मविद्या के फलों मे भेद है। अतएव ब्रह्मविद्या [अर्थात् वेदान्तदर्शन] मे कर्मविद्या अर्थात् पूर्वमीमासा वाली शैली को नहीं अपनाया जा सकता है। अतएव वृत्तिकार ने पूर्वमीमासा और उत्तरमीमासा की विचारशैली मे समानता मानकर उपनिषदो मे उपासनाविधि के अगरूप मे ही ब्रह्म का प्रतिपादन माना है वह भी उचित नहीं है। वृत्तिकार के मत के खण्डन मे भाष्यकार द्वारा प्रस्तुत किये गये 'कर्म ब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यात्' इस प्रथम हेतु की व्याख्या बहुत लम्बी है। अन्य हेतुओ को लेने से पहले इस प्रथम हेतु की व्याख्या को ही समझ लेना सुविधाजनक होगा। इसलिये हम अन्य हेतुओ की अभी चर्चा न करके इस प्रथम हेतु की ही व्याख्या यहाँ दे रहे है। भाष्यकार वृत्तिकार के मत का खण्डन करने मे अपनी युक्तियो का प्रारम्भ निम्न प्रकार करते हैं।

भाष्यकार का सिद्धान्त पक्ष—[वृत्तिकार के] इस पूर्वपक्ष के उपस्थित होने पर [उसके समाधानार्थ हम अर्थात् भाष्यकार यह] कहते हैं कि—[वृत्तिकार का] यह [कथन] ठीक नहीं है क्योंकि कर्मविद्या [अर्थात् पूर्वमीमांसा] और ब्रह्मविद्या [अर्थात् उत्तरमीमांसा या वेदान्त] दोनो के फलो मे भेद पाया जाता है [उसी भेद को आगे दिखलाते हैं] कि श्रुति स्मृति में प्रसिद्ध कर्म शारीरिक वाचिक अथवा मानसिक जिसको धर्म कहा जाता है उसकी जिज्ञासा 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इत्यादि सूत्र से जैमिनीदर्शन [अर्थात् पूर्वमीमासा मे १।१।१] में प्रतिपादित की गई है उसके साथ ही प्रतिषेध चोदना [अर्थात् निषेध वाक्यों] द्वारा अधर्म की जिज्ञासा भी उससे बचने के लिये करनी चाहिये [यह बात भी 'अथातो धर्मजिज्ञासा' सूत्र के द्वारा सूचित होती है] विधि

फले प्रत्यक्षे सुखदुःखे शरीरवाङ्मनोभिरेवोपभुज्यमाने विषयेन्द्रियसंयोगजन्ये ब्रह्मादिषु स्थावरान्तेषु प्रसिद्धे। मनुष्यत्वादारभ्य ब्रह्मान्तेषु देहवत्सु सुखतारतम्यमनुश्रूयते। ततश्च तद्धेतोर्धर्मस्य तारतम्यं गम्यते। धर्मतारतम्यादधिकारितारतम्यम्। प्रसिद्धं चार्थित्वसामर्थ्यादिकृतमधिकारितारतम्यम्। तथा च यागाद्यनुष्ठायिनामेव विद्यासमाधिविशेषादुत्तरेण पथा गमनं केवलैरिष्टापूर्तदत्तसाधनैर्धूमादिक्रमेण दक्षिणेन पथा गमनं तत्रापि सुखतारतम्यं तत्साधनतारतम्यं च शास्त्रात् 'यावत्संपातमुषित्वा' (छान्दो० ५।१०।५) इत्यस्माद् गम्यते।

[अथवा निषेध] वाक्यो द्वारा प्रतिपादित अर्थ और अनर्थ रूप धर्म तथा अधर्म दोनो के इन्द्रिय और अर्थ के सयोग से उत्पन्न (१) सुखदु खादिरूप फल [सबसे जानवान व्यक्ति ब्रह्मा से लेकर [वृक्षादिरूप] स्थावर योनि तक शरीर, वाणी या मन के द्वारा भोगे जाते हुये प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ते है। (२) मनुष्य से लेकर ब्रह्मादि पर्यन्त देहधारी प्राणियों मे सुख का तारतम्य न्यूनाधिक्य पाया जाता है इसलिये उसके कारणभूत कर्म के तारतम्य [न्यूनाधिक्य] का भी अनुमान होता है। और उस धर्म के तारतम्य से [धर्म का अनुष्ठान करने वाले] अधिकारियो मे भी तारतम्य [न्यूनाधिक्य] सिद्ध होता है। और अर्थित्व [अर्थात् प्रयोजन या फलकामना] तथा सामर्थ्य के कारण उत्पन्न अधिकारियो का तारतम्य ज्ञात ही होता है। जैसे कि यज्ञादि का अनुष्ठान करने वालो का ही विद्या तथा समाधि के द्वारा [मृत्यु के बाद] उत्तर मार्ग से गमन होता है और केवल यज्ञ आपूर्त्य [वापी कूप तड़ागादि का निर्माण तथा दानादि साधनो के द्वारा धूमादि क्रम से दक्षिण मार्ग द्वारा गमन कहा गया है [यह अधिकारियो के भेद या तारतम्य का बोधक है] उनमे भी सुख और उसके साधनो का तारतम्य [आगे दिये हुये यावत्सपातमुषित्वा अपने कर्म स्स्कारो के अनुसार [सम्पतति यस्माँल्लोकान्तरम् लोकान्तराद्वा स सम्पात कर्मसंस्कारात् चन्द्रादि लोक मे रह कर फिर इस लोक मे जिस क्रम से गया था] उसी क्रम से वापस आता है।

इस प्रकरण मे जिन उत्तर मार्ग तथा दक्षिण मार्गों का उल्लेख किया गया है उन्हीं को क्रमशः देवयान तथा पितृयान नाम से कहा जाता है अर्थात् उत्तरायण मार्ग 'देवयान' और दक्षिणायन मार्ग 'पितृयान' कहलाता है। भाष्य-

कार ने इस प्रकरण को छान्दोग्योपनिषद् के पञ्चमखण्ड के आधार पर दिया है। उस खण्ड से पूर्व पञ्चाग्निविद्या का प्रकरण चल रहा था। इस दशमखण्ड मे देवयान तथा पितृयान की चर्चा की गई है जो यागादि कर्म करने वाले कर्मकाण्डी वनो मे रहकर तापस जीवन व्यतीत करते है और समाधि की साधना करते हैं वे उस साधना से प्राप्त विद्या तथा ज्ञान और समाधि के प्रभाव से देह त्याग के बाद १ अर्चि [अग्निज्वाला] २ अह [दिन] ३ आपूर्यमाण पक्ष [अर्थात् शुक्ल पक्ष] ४ उत्तरायण काल के छय मासो को ५ मासो से सम्वत्सर को ६ सम्वत्सर से आदित्य को ७ आदित्य से चन्द्रलोक को ८ चन्द्रलोक से विद्युत् आदि को प्राप्त करते है। फिर वहाँ से उसी मार्ग से इस लोक मे वापस आते है। यह मार्ग 'देवयान' नाम से कहा जाता है। इसके विपरीत जो गृहस्थ कर्मकाण्डी घरो मे रहकर 'ईष्ट' अर्थात् यज्ञादि और 'आपूर्त' अर्थात् वापीकूपतडागादि का निर्माण तथा दान आदि कर्मो का अनुष्ठान करते है वे धूमादिक्रम से दक्षिणायन मार्ग को प्राप्त होते है और अपने कर्मभोगानुसार प्राप्त अन्तिम चन्द्रलोक को प्राप्त करते है और वहाँ 'यावत्संपातमुषित्वा०' अर्थात् अपने कर्म सस्कारानुसार निश्चित काल तक रह कर फिर उसी मार्ग से इस लोक मे वापिस आते है। यह मार्ग 'दक्षिणायन अथवा पितृयान' कहलाता है। ये दोनो अवस्थाये कर्मकाण्डियो की ही होती हैं। अन्तर केवल इतना है कि जो यागादि कर्मों के साथ वन मे रह कर तप और योग की साधना करते है वे देवयान को प्राप्त होते है आर जो घरो मे रह कर यज्ञ वापीकूपतडागादि का निर्माण और दानादि का अनुष्ठान करते है वे दक्षिणायन या पितृयान को प्राप्त करते है। इनमे से देवयान मे अर्चि आदि के क्रम से चन्द्रलोक की प्राप्ति कही गई है और पितृयान मे धूमादि क्रम से चन्द्रलोक की प्राप्ति कही गई है। इन 'अर्चि' तथा 'धूमादि' शब्दों का साधारण अर्थ ही सामान्यतः टीकाकारो ने लिया है किन्तु श्रीशिवशंकर जी काव्यतीर्थ ऐसे टीकाकार हैं जिन्होने इन शब्दो से भौतिक वस्तुओं का ग्रहण न करके ज्ञान की विशेष विभिन्न दशाओ का ग्रहण किया है। विषय को अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिये हम छान्दोग्योपनिषद् के दशमखण्ड से इस प्रकरण को और उस पर दी हुई श्रीशिवशंकर काव्यतीर्थ की टीका को आगे उद्धृत करते है—

तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासांस्तान ॥ १ ॥

नदिति । तत् । तत्र जीवाना मध्ये । ये विद्वास । इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण पञ्चाग्निविद्यायास्तत्त्वं । सम्यग् विदुर्जानन्ति । ये च इमे प्रसिद्धा परिव्राजः । अरण्ये वने एकान्तस्थाने । श्रद्धा ईश्वरे प्रतीति । तप प्रत्यहं मननिदिध्यासनादिव्यापारः । इत्युपासते । कुर्वन्ति । अयमभिप्राय । ये श्रद्धया सत्य शम-दम-मननिदिध्यासनादितपश्चरणेन च ब्रह्मोपासते । ते पञ्चाग्निविद्याविद श्रद्धावन्तस्तपस्विन परिव्राजश्च । अर्चिषम् । अर्चिरित्यग्निज्वाला । साधारणा लघ्वीमुदग्गमनशीलां लघुदेशव्यापिनीमग्नेर्ज्वालामिव कामपि ज्योतिष्मतीं दशाम् । आग्नेयशक्तिं वा । अभिसंभवन्ति प्राप्नुवन्ति । मरणानन्तरं किञ्चिदानन्दसयुक्तां प्रकाशसहिता दशा प्रथम जीव प्राप्नोति । तत अर्चिष । अर्चीरूपाया दशाया सकाशात् अहर्दिनम् । अभिसभवन्ति । यथा । अर्चिषो दिने भूय इव बहुव्यापकमिव अधिकं प्रकाशमिव लक्ष्यते । तथैव तस्या दशाया सकाशादधिकानन्दप्रदामधिकदेशव्याप्तज्योतिषं दशां प्राप्नुवन्ति । अह्न सकाशादापूर्यमाणपक्षम् । दिवसादेकस्मात् केवलाद् आपूर्यमाणपक्ष. सर्वथा भूयान् मिलित्वाधिकानन्दघनश्चास्ति । अतो दैनिकदशा तुलिताया सकाशात् शुक्लपक्षपरिमिताभिव अधिकतरानन्दाम् अधिकतरदेशव्यापिनीं कामपि दशा प्राप्नुवन्ति । आपूर्यमाणपक्षात् सकाशात् । उदङ् । उत्तरा दिशमञ्चति गच्छतीत्युदङ् उत्तरदिशाप्रस्थित । सूर्य । यान् षण्मासान् । एति प्राप्नोति तानिव । कामपि विस्तीर्णानन्दा दशा प्राप्नुवन्ति ॥ १ ॥

मासेभ्यः संवत्सरꣳ संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युत तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति ॥ २ ॥

मासेभ्य इति । मासेभ्य सवत्सरम् । षण्मासेभ्यो भूयानेव वर्षो भवति । तस्य द्वादश मासात्मकत्वात् । तस्माद् द्विगुणतरामानन्ददशां प्राप्नुवन्ति सवत्सरादादित्यम् । आदित्येनैव संवत्सर प्रादुर्भवति । यो यस्माद् भवति स तस्माल्लघुतर । मृत्तिकातः घट इव । अत तस्मादधिकतरानन्ददायिनीं दशा गच्छन्ति । आदित्याच्चन्द्रमस चान्द्रमसीं दशां सर्वथा आह्लादकरीमानन्दरसपूर्णां गच्छन्ति । ततो विद्युतम् । यथा विद्युदतितीक्ष्णा अतितीव्रज्वाला तथा बहुदेशव्यापिनीं विद्युतमिव दशां प्राप्नुवन्ति । इमां दशां प्राप्य तेषामानन्दस्य सीमा अति विस्तीर्णा भवति । अत आह-तत्पुरुष । अमानव इति । तस्या विद्युदुपमदशायाः । पुरुष व्यापककर्मविशेषः । अमानव । मानमस्यास्ति इति मानव । न मानवः अमानव असीम इत्यर्थः । अत्र स एवायाति यस्य शुभकर्मविशेषोऽसीमो

भवति । सोऽमानव पुरुषः । एनान् विदुषः । ब्रह्म ब्राह्मीं दशां । गमयति प्रापयति । हे गौतम ! एष एव देवयानः पन्था ॥ २ ॥

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिꣳरात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान् षड्दक्षिणैति मासाꣳस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति ॥ ३ ॥

अथेति । अथ शब्द आरम्भार्थं । पितृयाणपथस्य वर्णनमारभ्यते । ये इमे प्रसिद्धा गृहस्थाः । ग्रामे ग्रहणाद्वा ग्रसनाद्वा गमनेन यत्र रमणाद्वा ग्रामः । तस्मिन् भोग्यस्थाने एव । न तपश्चरणप्रदेशे इत्यर्थः । इष्टापूर्ते इष्टञ्चापूर्तञ्च । इज्यन्ते पूज्यन्ते देवा ईश्वरमातृपितृबुधगणप्रभृतयो येन । इज्यन्ते विविधहोमीयद्रव्याणि दीयन्ते प्रक्षिप्यन्ते येन च । तदिष्टम् । यजनम् । अग्निष्टोमादि वैदिककर्म । आपूर्तम् । पूरणम् । आपूर्यन्ते समन्ताद् ध्रियन्ते पोष्यन्ते द्विपदश्चतुष्पदाः सर्वे जीवा येन तदापूर्तम् । आपूर्तं वापीकूपतडागारामादिकरणम् । दत्तम् दानम् । देशकालपात्रविवेकेन यथाशक्ति द्रव्याणामुत्सर्गः इति शब्द प्रकारार्थे । एवंविधानि दयापरोपकारे रक्षण अहिंसनमित्यादीनि अन्यान्यपि आचरणानि उपासते । श्रद्धयाऽनुरागेण प्रीत्या च कुर्वन्ति । ते इष्टापूर्तदत्तोपासका धूमो धूमनात् कम्पनाद् धूमः । आशुपुनरावृत्तिकारणाद् धूमत्वम् । नातिप्रकाशः नात्यन्धकारो धूमशब्दवाच्यः धूमवद्दशां अभिसंभवन्ति प्राप्नुवन्ति । धूमाद् । रात्रिम् । विश्रामस्य रानाद्दानाद्वा चन्द्रेण राजनाद्वा रमणाद्वा । जनस्य त्राणाद्वा रात्रिः । क्षयशीलामापातरमणीयां दशाम् । अभिसंभवन्तीत्यर्थः । रात्रेः सकाशाद् । अपरपक्षम् । अपरे अनुत्कृष्टा मध्यमा जना पचन्ति आनन्द भक्षयन्ति अनुभवन्ति यत्र सोऽपरपक्ष । रात्र्यपेक्षया अधिकानन्दप्रदां दशाम् । मासस्य अपरपक्षवत् रात्रेर्विस्तीर्णतरामिव दशां वा । अपरपक्षात् । यान् षण्मासान् दक्षिणा दक्षिणाम् । दिशम् । सूर्य इति शेषः । एति गच्छति । तान् मासान् । अभिसंभवन्ति । एते उपासकाः । संवत्सर न नैव अभिप्राप्नुवन्ति । मास । माननाद्वा । मानस्य आसनाद्वा । मामुपासकमासयति उपवेशयति इति प्रत्याशनाद्वा मास । अपरपक्षादधिकविस्तीर्णमिव दशामित्यर्थ । अत्र संवत्सर पूर्णतासूचक न पूर्णानन्द प्राप्नुवन्तीत्यर्थ ॥ ३ ॥

मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं त देवा भक्षयन्ति ॥ ४ ॥

मासेभ्य इति । मासेभ्यो दक्षिणायणात् पितृलोकम् । पितृलोकमभिसंभवन्तीत्यध्याहारः । पितृलोक इत्यानन्ददशाविशेषरूप सञ्ज्ञा । पितैव लोकः पितृलोक । न तु पितुः पितॄणां वा लोकः । इह पित्रादिशब्दो दशासूचकः । सर्वत्रेत्थं ज्ञेयम् ।

पितरः पालका. पितृवत्पालकवद् आनन्दिता लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवा यत्र स पितृलोक । तम् । पितृलोकाद् । आकाशम् । अभिसमवन्ति । अतो दशाविशेषस्य सज्ञा ग्राह्या । आकाशाच्चन्द्रमसम् । चन्द्रवत् मा मान यस्य आनन्दस्य स चन्द्रमा । तम् । चन्द्रप्रकाशाप्रकाशवत् सुखदु खमिश्रितामानन्ददशामभिसभवति । एष सोमो राजा निगद्यते । एष चन्द्रमा । सोम: प्रिय सोमरसवत् सर्वेषामाह्लादकर । राजा राजते शोभत इति राजा । यदा जीवश्चान्द्रमसीं दशा प्राप्नोति । तदा आह्लादस्वरूपो दिव्यमूर्त्तिश्च भवति इमा दशा प्राप्य जीवस्य कर्मणा क्षयो भवति । कर्मक्षये पुनरपि स्थूलशरीर प्रापणीयमतोऽग्रेऽन्न भवतीति दर्शयति । पुनरपि प्रथमाग्नौ हूयते ततः क्रमेण स्त्रीरूपाग्नौ हुत सन् पुरुषवाची भवतीत्येव चंद्रवत्परिभ्राम्यति । तथा हि । तद्देवानामन्नम् । विधेयप्राधान्यात् तदिति नपुसकम् । स चन्द्रगतो पुरुष । देवाना सूर्यकिरणाना प्राकृतनिमानावा अन्नमन्नमिव भक्ष्यम् । त देवा भक्षयन्ति प्रथमाग्नौ क्षिपन्ति । इह हि जात्यैकवचनम् । चान्द्रमसीं दशा प्राप्य सर्वे जीवाः सोमवद् राजमानास्तिष्ठन्ति । प्रथमायामाहुत्या श्रद्धा हूयते । ततः सोमो राजा सम्भवतीत्युक्त पुरस्तात् । अत आसन्ने कर्म्मक्षये सति सर्वो जीवः सोमसज्ञा लभते । यद्यपि सोम इति जलस्य सज्ञा तथापि तज्जलससर्गात् सैव सज्ञा जीवस्यापि भवति ॥ ४ ॥

तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते । यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमोभूत्वाऽभ्रं भवति ॥ ५ ॥

तस्मिन्निति । तस्मिंश्चन्द्रलोके तस्या चान्द्रमस्यां दशायामित्यर्थ । ग्रामे इष्टापूर्त्तदत्तोपासकाः । यावत्सपात सम्पतन्त्यध पतन्त्युपासका येन कर्मक्षयेण स सम्पात कर्मणा क्षय । यावत्कर्मणां क्षयो न भवति तावत्कालम् उषित्वा वासं कृत्वा । अथानन्तर एतमेवाध्वान । येन मार्गेण जनाना पुन पुनेरतमागतमागमनम् भवति । तमेवाध्युषित मार्ग लक्षीकृत्य पुनर्निवर्त्तन्ते । पुनरपि जलवदवरोहन्ति । कोऽयं मार्गोऽयं प्रतिनिवर्त्तन्त इति विस्पष्टयति । यथेत यथागतं निवर्त्तन्ते । ननु मासेभ्य. पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमिति गमनक्रम उक्तो न तथा निवृत्तिः । किं तर्हि । आकाशाद्वायुमित्यादि कथं यथेतमित्युच्यते नैष दोष । आकाशप्राप्तेस्तुल्यत्वात् पृथिवीप्राप्तेश्च । न चात्र यथेतमिति नियमोऽनैवविधमपि निवर्त्तन्ते । पुनर्निवर्त्तन्त इति तु नियमः । अत उक्तलक्षणार्थमेतद् यथेतमिति । अतो भौतिकमाकाश तावत् प्रतिपद्यन्ते आकाशात् । वायुमभिसंभवन्ति । वायुस्थो भवतीत्यर्थ. । वायुर्भूत्वा धूमो भवति । धौमीं दशा प्राप्नोति । धूमो भूत्वा । धौमीं दशां प्राप्य । अभ्र भवति । आभ्रीं दशा प्राप्नोति ॥ ५ ॥

अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति । त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति ॥ ६ ॥

अभ्रमिति । अभ्रं भूत्वा मेघो भवति सेचनसमर्थो मेघो भवति मेघो भूत्वा विविधप्रदेशेषु प्रवर्षति । वर्षधारारूपेण पततीत्यर्थ । त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इत्येवम्प्रकाराः क्षीणकर्माणो जायन्ते । क्षीणकर्मणामनेकत्वाद् बहुवचननिर्देशः । मेघादिषु पूर्वेष्वेकरूपत्वादेकवचननिर्देशः । यस्माद्गिरितट, दुर्ग-नदी-समुद्रारण्यमरुदेशादिसन्निवेशसहस्राणि वर्षधाराभि पतिताना । अतस्तस्माद्धेतोर्वै खलु दुर्निष्प्रपतरं दुनिष्क्रमण दुर्नि.सरणम् । यतो गिरितटादुदकस्रोत-सोह्यमाना नदी प्राप्नुवन्ति ततः समुद्राम्भोधिर्जलधरैराकृष्ट. पुनर्वर्षधाराभिर्मरुदेशे शिलातटे वाऽगम्ये स्थाने पतितास्तिष्ठन्ति । कदाचिद् व्यालमृगादिपीता भक्षिताश्चान्यै । तेऽप्यन्यैरित्येवम्प्रकारा. परिवर्त्तेरन् । कदाचिदभक्ष्येषु जातास्तत्रैव शुष्येरन् । भक्ष्येष्वपि स्थावरेषु प्रजाताना रेत. सिग्देहसम्बन्धो दुर्लभ एव । बहुत्वात् स्थावराणाम् इति । अतो दुर्निष्क्रमणत्वम् । अथवाऽतोऽस्माद् व्रीहियवादिभावाद् दुर्निष्प्रपतर दुर्निर्गमन दुर्निष्प्रपतरमिति तकार एको लुप्तो द्रष्टव्य । व्रीहियवादिभावाद् दुर्निष्प्रपतर दुर्निष्प्रपतरन्तस्मादपि दुर्निष्प्रपतराद्रेतः । सिग्देहसम्बन्धो दुर्निष्प्रपतर इत्यर्थ । यस्मादूर्ध्वरेतोभिर्बालै पुंस्त्वरहितै. स्थविरैर्वा भक्षिता अन्तराले शीर्यन्ते अनेकत्वादन्नादानाम् । कदाचित्काकतालीयन्यायेन रेत.सिग्भिर्भक्ष्यन्ते यदा तदा रेत सिग्भावगताना कर्मणो वृत्तिलाभ. । कथ यो यो ह्यन्नमत्ति अनुशयिभिः संश्लिष्ट रेतः सिक् यश्च रेतः सिञ्चत्यृतुकाले योषिति । तद्भूय एव तदाकृतिरेव भवति । रेतोरूपेण तदवयवआकृतिभूयस्त्व भूय इत्युच्यते रेतोरूपेण योषिति रेतसो रेत' सिगाकृतिभावितत्वात् । सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूतमिति हि श्रुत्यन्तरात् । अतो रेतःसिगाकृतिरेव भवतीत्यर्थ. । तथाहि । पुरुषात् पुरुषो जायते गोर्गवाकृतिरेव न जात्यन्तराकृतिस्तस्माद्युक्तं तद्भूय एव भवतीति शंकराचार्यः ॥ ६ ॥

यह उद्धरण बहुत लम्बा हो गया है किन्तु वेदान्तभाष्य की 'उत्तरेण पथा गमन' और 'दक्षिणेन पथा गमन' आदि पंक्तियों को समझने के लिये तथा 'देवयान' एवं 'पितृयान' के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये मूल छान्दोग्योपनिषद् और उसके श्रीशिवशंकरजी कृत भाष्य की विशेष उपयोगिता है ऐसा मानकर हमने प्रकरण लम्बा होने पर भी उसको यहाँ उद्धृत कर दिया है। आशा है उससे विषय स्पष्ट हो गया होगा ।

तथा मनुष्यादिषु नारकस्थावरान्तेषु सुखलवश्चोदनालक्षणधर्मसाध्य एवेति गम्यते तारतम्येन वर्तमानः।

तथोर्ध्वगतेष्वधोगतेषु च देहवत्सु दुःखतारतम्यदर्शनात्तद्धेतोरधर्मस्य प्रतिषेधचोदनालक्षणस्य तदनुष्ठायिनां च तारतम्यं गम्यते। एवमविद्यादिदोषवतां धर्माधर्मतारतम्यनिमित्तं शरीरोपादानपूर्वकं सुखदुःखतारतम्यमनित्यं संसाररूपं श्रुतिस्मृति-

---

उपर प्रकृत वेदान्त भाष्य मे भाष्यकार वृत्तिकार के मत का खण्डन कर रहे थे। वृत्तिकार ने पूर्वमीमासा की विवेचना शैली के आधार पर वेदान्त अर्थात् उपनिषदो मे भी क्रिया की प्रधानता मानकर ही 'प्रतिपत्तिविधिविषयतयैवशास्त्रेण ब्रह्म समर्प्यते' अर्थात् उपासनाविधि के अगरूप मे ही उपनिषदो मे ब्रह्म का निरूपण किया गया है, स्वतन्त्ररूप मे नहीं, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। किन्तु भाष्यकार इससे सहमत नहीं हैं। वे मीमासा की विचारपद्धति को उपनिषदो के विवेचन के प्रकरण मे लागू करना उचित नहीं समझते। इसके लिये उन्होने 'कर्म ब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यात्' यह हेतु दिया था। उसी प्रसग से पिछली पक्तियो मे यह दिखलाया था कि कर्मविद्या का फल सुखदुःखरूप होता है जो कि इन्द्रिय और अर्थ के सयोग से उत्पन्न और शरीरादि के द्वारा ही उपभोगयोग्य होता है। इसके साथ ही दूसरी बात उन्होंने यह कही थी कि कर्मविद्या के फल मे तारतम्य, न्यूनाधिकता, या अनेक रूपता पाई जाती है। ब्रह्मविद्या के फल मे ये दोनो बातें नहीं है इसी प्रकरण मे ऊपर 'उत्तर मार्ग या देवयान' और दक्षिण मार्ग अथवा पितृयान' की चर्चा की गई थी। उसका उद्देश्य कर्मविद्या के फल मे तारतम्य को दिखलाना था। अब इसी प्रसग को और आगे बढाते हुये भाष्यकार अगली पंक्तियों मे लिखते है कि—

इसी प्रकार मनुष्य से लेकर स्थावर और नारक योनियो तक विधि द्वारा प्रतिपादित धर्म से उत्पन्न नाम मात्र का सुख भी तारतम्य से युक्त ही रहता है। इसी प्रकार ऊर्ध्व लोको मे ओर अधो लोको मे स्थित प्राणियो मे प्रतिषेधवाक्यो द्वारा सूचित अधर्म मे उत्पन्न दुःख का अश भी तारतम्य से युक्त ही होता है। इस प्रकार अविद्यादि दोष से युक्त [अर्थात् ब्रह्मज्ञान से रहित] प्राणियो मे शरीरधारणपूर्वक ससाररूप [अर्थात् जन्म-मरण रूप] अनित्य [धर्माधर्म के तारतम्य के कारण उत्पन्न होने वाला] सुखदुःख का तारतम्य श्रुति स्मृति और तर्क द्वारा सिद्ध होता है।

न्यायप्रसिद्धम्। तथा च श्रुतिः—'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति' इति यथावर्णितं संसाररूपमनुवदति। 'अशरीरं वा वसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (छान्दो ८।१२।१) इति प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषेधाच्चोदनालक्षणधर्मकार्यत्वं मोक्षाख्यस्याशरीरत्वस्य प्रतिषिध्यत इति गम्यते। धर्मकार्यत्वे हि प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषेधो नोपपद्यते।

अशरीरत्वमेव धर्मकार्यम्।

इति चेन्न, तस्य स्वाभाविकत्वात्। 'अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति' (काठ० १।२।२१) 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (मुण्ड० २।१।२)

जैसा कि 'न ह वै सशरीरस्य सत प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति' अर्थात् शरीर रहते हुये सुख और दुःख का नाश नहीं हो सकता है यह उपनिषद्वाक्य [श्रुति] (छान्दोग्य ८।१२।१) पूर्वकथित 'ससार' [अर्थात् जन्ममरण के चक्र] स्वरूप को प्रतिपादन करता है। और 'अशरीर वाव सन्त न प्रियाप्रिये स्पृशत (छान्दो ८।१२।१) अर्थात् शरीर के बन्धन से रहित हो जाने पर सुखदु.ख का सस्पर्श भी नहीं होता है यह [श्रुति अर्थात्] उपनिषद्वाक्य मोक्ष नामक अशरीरावस्था सुखदु ख के संस्पर्श का निषेध करके वह मोक्षावस्था विधिवाक्यो द्वारा प्रतिपादित धर्म से जन्य नहीं है इस बात को सूचित करता है। क्योंकि यदि [मोक्ष को] धर्म से जन्य माना जाय तो उसमे सुखदुःख के सम्पर्क का निषेध नहीं बन सकता है।

पूर्वपक्ष—[इसके ऊपर वृत्तिकार की ओर से यह युक्ति दी जा सकती है कि] उक्त श्रुति में प्रतिपादित अशरीरावस्था ही धर्म का कार्य है [अर्थात् धर्म से जन्य हैं तो भाष्यकार उसका निषेध करते हुये आगे लिखते है कि]—

उत्तर—यदि ऐसा कहो तो वह ठीक नहीं है क्योंकि उसके [अर्थात् अशरीरावस्थारूप मोक्ष के स्वाभाविक होने से [उसे धर्म का कार्य अर्थात् धर्म से जन्य नहीं कहा जा सकता है]। यह बात 'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्' अर्थात् शरीरो के भीतर रहने पर भी स्वय शरीररहित, फिर अनित्य पदार्थों में रहने पर भी नित्य, सर्वव्यापक, महान, आत्मा, [अर्थात् परमात्मा] को जानकर विद्वान पुरुष दुःख से मुक्त हो जाता है' (काठ.

'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृह० ४।३।१५) इत्यादि श्रुतिभ्यः। अतएवानुष्ठेय कर्मफलविलक्षणं मोक्षाख्यमशरीरत्वं नित्यमिति सिद्धम्।

तत्र किंचित्परिणामि नित्यं यस्मिन्विक्रियमाणेऽपि तदेवेदमिति बुद्धिर्न विहन्यते। यथा पृथिव्यादि जगन्नित्यत्ववादिनाम्। यथा च सांख्यानां गुणाः। इदं तु पारमार्थिकं, कूटस्थं नित्यं, व्योमवत्सर्वव्यापि, सर्वविक्रियारहितं, नित्यतृप्तं, निरवयवं, स्वयंज्योतिः स्वभावम्। यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण काल-

---

१।२।२१) 'वह [अर्थात् परमात्मा देहधारियों में पाये जाने वाले] प्राण व्यापार [श्वासोच्छ्वास] और मन के सम्पर्क से रहित तथा शुभ्र [अर्थात् दोषों से रहित] है' (मुण्डक० २।१।२)। 'यह पुरुष असङ्ग [अर्थात् सुख-दुःख के सम्बन्ध से रहित] है' (बृहद० ४।३।१५) इत्यादि [श्रुतियों अर्थात् उपनिषद्वाक्यों में यह बात] सिद्ध होती है। इसलिये अनुष्ठान करने योग्य [धर्मादि रूप] कर्मों के फल से भिन्न मोक्ष नामक अशरीरवस्था नित्य है यह बात सिद्ध हो गई।

[यह नित्यता दो प्रकार की होती है। एक परिणामि नित्यता और दूसरी कूटस्थ नित्यता] उनमें से कुछ वस्तुयें जिनमें रूप परिवर्त्तन हो जाने पर भी यह वही है इस प्रकार के ज्ञान में बाधा नहीं पड़ती है वे 'परिणामि नित्य' कहलाती हैं। जैसे जगत को नित्य मानने वाले [पूर्वमीमांसकों] के मत में पृथिव्यादि [परिणामि नित्य हैं, क्योंकि पृथिवी का घटादिरूप में परिवर्त्तन हो जाने पर भी ये सब पार्थिव पदार्थ हैं इस प्रकार की बुद्धि में बाधा नहीं पड़ती है। इसलिये सृष्टि को प्रवाह से अनादि और अनन्त मानने वाले पूर्वमीमांसकों के मत में पृथिव्यादि को परिणामिनित्य कहा जा सकता है] अथवा जैसे सांख्य के मत में [सत्त्वगुण, रजोगुण तमोगुण रूप] गुण [अर्थात् त्रिगुणात्मक प्रकृति परिणामिनित्य है क्योंकि त्रिगुणात्मक प्रकृति के स्वरूप में नानाविध परिवर्त्तन होने के कारण ही इस जगत् की उत्पत्ति होती है किन्तु फिर भी यह सब जगत् प्रकृतिजन्य है, त्रिगुणात्मक है, इस बुद्धि में बाधा नहीं पड़ती है। इसलिये सांख्याभिमतगुण भी परिणामी नित्य कहे जा सकते हैं]। और यह [अर्थात् मोक्ष ब्रह्म या ईश्वर का स्वरूपभूत होने से] पारमार्थिक और 'कूटस्थनित्य' [जिसमें तीनों कालों में किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं होता है] आकाश के

त्रयं च नोपावर्तते । तदेतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम् । 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् । अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च (क० २।१४) इत्यादि श्रुतिभ्यः । अतस्तद् ब्रह्म यस्येयं जिज्ञासा प्रस्तुता ।

तद्यदि कर्त्तव्यशेषत्वेनोपदिश्येत, तेन च कर्तव्येन साध्यश्चेन्मोक्षोऽभ्युपगम्येत, अनित्य एव स्यात् । तत्रैवं सति यथोक्त-

---

समान सर्वव्यापक, सारे विकारो से रहित, नित्य तृप्त, निरवयव और परम प्रकाश स्वरूप है। जिसमे धर्माधर्म और कार्यसहित तीनो कालो की कोई गति नहीं होती है। यह बात कि मोक्षावस्थारूप अशरीरत्व धर्म से जन्य नहीं है—'अन्यत्र धर्मात्०' धर्म के सम्बन्ध से रहित और अधर्म के सम्बन्ध से रहित तथा इस [कृताकृतात् अर्थात् पुण्य-पाप के सम्बन्ध से विहीन] तथा भूत एव भव्य [आगे उत्पन्न होने वाले] से भिन्न है' (क० २।१४) इत्यादि उपनिषद्वाक्यों से सिद्ध है। इसलिये वही ब्रह्म है जिसकी जिज्ञासा यहाँ 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्र के द्वारा प्रारम्भ की गई है।

इस प्रकार यहाँ तक भाष्यकार ने कर्मविद्या और ब्रह्मविद्या के फलो मे भेद का प्रतिपादन किया और उससे उन्होने यह परिणाम निकालने का यत्न किया है कि पूर्वमीमांसा की विचारशैली के आधार पर वेदान्त अर्थात् उपनिषदो की व्याख्या करना उचित नहीं है। वृत्तिकार बोधायन या उपवर्ष ने पूर्वमीमांसा की विचारशैली को अपनाकर वेदान्त अर्थात् उपनिषदो की व्याख्या करने का यत्न किया था। इसीलिये उन्होंने तथा पूर्वमीमासकों ने उपनिषदों मे प्रतिपादित ब्रह्म को किसी क्रिया के अगरूप मे ही माना था। जिनमे मीमासको ने कर्मकाण्ड मे अपेक्षित कर्त्ता और देवता के स्वरूप प्रतिपादनपरक मानकर उपनिषदों की सगति लगाई थी। और वृत्तिकार बोधायन अथवा उपवर्ष ने उपासनाविधियों के अंगरूप मे ब्रह्म का प्रतिपादन मान कर उपनिषद्वाक्यो की व्याख्या करने का यत्न किया था। इनमें से मीमासकों का मार्ग 'कर्मकाण्ड' या 'कर्म-मार्ग' नाम से और वृत्तिकार का मत 'उपासनाकाण्ड अथवा भक्तिमार्ग' के नाम से प्रसिद्ध है। किन्तु प्रकृत भाष्यकार इन दोनो से सहमत नहीं हैं। वे उपनिषदों मे न कर्मकाण्ड का सम्बन्ध मानते हैं और न भक्तिमार्ग का सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। इसीलिये उन्होंने ऊपर इन दोनो मार्गों का विस्तारपूर्वक खण्डन किया है। उसी खण्डन को और आगे जारी रखते हुए भाष्यकार आगे लिखते हैं कि—

यदि उस [ब्रह्म को] क्रियाविधि के अंगरूप मे माना जाय और उस

कर्मफलेष्वेव तारतम्यावस्थितेष्वनित्येषु कश्चिदतिशयो मोक्ष इति प्रसज्येत, नित्यश्च मोक्षः सर्वैर्मोक्षवादिभिरभ्युपगम्यते, अतो न कर्तव्यशेषत्वेन ब्रह्मोपदेशो युक्तः ।

अपि च 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति (मुण्ड० ३।२।९) 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' (मुण्ड० २।२।८) 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । न बिभेति कुतश्चन' (तैत्ति० २।९)। 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' (बृह० ४।२।४)। 'तदात्मानमेवावेदहं

[उपक्रिया के द्वारा मोक्ष की उत्पत्ति कही जाय तो मोक्ष को तो निश्चय ही अनित्य मानना पड़ेगा। और ऐसा मानने पर तारतम्य से युक्त पूर्वोक्त अनित्य कर्मफलो के भीतर ही किसी विशेष अवस्था को मोक्ष नाम से कहा जा सकेगा। किन्तु मोक्ष को मानने वाले सभी मत मोक्ष को नित्य ही मानते है। इसलिये ब्रह्म के उपदेश को क्रियाविधि के अंगरूप मे मानना उचित नहीं है [यह भाष्यकार का सिद्धान्त पक्ष है।]

ब्रह्मज्ञान के बाद मोक्षप्राप्ति के लिये किसी क्रिया की आवश्यकता नहीं—

इस प्रकार यहाँ तक भाष्यकार ने मीमांसकों तथा वृत्तिकार दोनों के मतों का खण्डन किया है। उसी को और आगे बढाते हुये कतिपय उपनिषद्वाक्यो को उद्धृत करके आगे वे यह दिखलाने का यत्न करेंगे कि ब्रह्मज्ञान ही मोक्षस्वरूप है। ब्रह्मज्ञान के बाद न किसी धर्मादि के अनुष्ठान की आवश्यकता है और न किसी प्रकार की उपासना का कोई प्रयोजन रह जाता है। इस बात को वे अगली पंक्तियों में निम्न प्रकार लिखते हैं कि—

ओर 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति (मुण्डक० ३।२।९) अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने वाला स्वयं ब्रह्मरूप ही हो जाता है। 'क्षीयन्ते चास्यकर्माणि०' (मुण्ड० २।२।८) उस अनादि अनन्त ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने पर इस [साधक] के सारे कर्म संस्कार नष्ट हो जाते हैं [फिर उसे जन्ममरण के चक्र-रूप संसार मे नहीं आना पड़ता है, वह मोक्ष को प्राप्त हो जाता है]। 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्।' (तैत्ति० २।९) अर्थात् ब्रह्म के आनन्दस्वरूप का साक्षात्कार करने वाला किसी से भयभीत नहीं होता है [अर्थात् दुख भयादिमय संसार के बन्धनों से रहित होकर मोक्षावस्था को प्राप्त कर लेता है]। 'अभय वै जनक प्राप्तोऽसि' (बृह० ४।२।४) हे जनक ! [ब्रह्म का साक्षात्कार करके] आप

ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत् सर्वमभवत् (वाजसनेयिब्राह्मणोप० १।४।१०)। 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः (ईशा० ७) इत्येवमाद्याः श्रुतयो ब्रह्मविद्यानन्तरं मोक्षं दर्शयन्त्यो मध्ये कार्यान्तरं वारयन्ति । तथा 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च' (बृह० १।४।१०) इति ब्रह्मदर्शनसर्वात्मभावयोर्मध्ये कर्तव्यान्तरवारणायोदाहार्यम् । यथा तिष्ठन् गायतीति तिष्ठति गायत्योर्मध्ये तत्कर्तृकं कार्यान्तरं नास्तीति गम्यते ।

[मोक्षस्वरूप] भयविहीन अवस्था को प्राप्त कर चुके है। 'तदात्मानमेवावेदह ब्रह्मास्मीति०' (वाजसनेयिब्राह्मण १।४।१०) अर्थात् उसने अपने को ब्रह्मस्वरूप समझ लिया अर्थात् मै ही [जीवात्मा ही] ब्रह्म है इस बात का अनुभव कर लिया। इसलिये वह [ब्रह्म के व्यापक होने से और जीवात्मा के उस ब्रह्म मे लीन होने से] सर्वात्मक बन गया। 'तत्र को मोह०' (ईशा० ७) [जीव और ब्रह्म के] एकत्व का अनुभव करने वाले को वहाँ [मोक्ष मे] शोक और मोह कैसे रह सकते हैं [अर्थात् नहीं रहते इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्मसाक्षात्कार के बाद ही [अव्यवधानेन] मोक्षको दिखलाकर [ब्रह्मज्ञान और मोक्षप्राप्ति के] बीचमे [कर्मकाण्ड अथवा उपासनादि रूपकर्म] अन्य कार्यों का खण्डन करती है [अर्थात् ब्रह्मज्ञान के बाद वृत्तिकाराभिमत उपासनाओ को मानने का कोई औचित्य नहीं है]। और ब्रह्मज्ञान एव मोक्षप्राप्ति के बीच अन्य किसी क्रिया की उपयोगिता का निवारण करनेके लिये 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेव०' (बृह० १।४।१०) वामदेव ऋषिने [ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके फिर 'मैं ही मनु था और मै ही सूर्य था'] इस बात का अनुभव किया इत्यादि श्रुतिया भी उदाहरण रूप मे प्रस्तुत की जा सकती हैं जैसे 'तिष्ठन्गायति' खड़े होकर गाता है इत्यादि मे खड़े होने और जाने के बीच उसी व्यक्ति द्वारा की जाने वाली अन्य क्रियाओ का निषेध सूचित होता है [इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान और ब्रह्म अथवा मोक्ष की प्राप्ति के बीच उसी व्यक्ति के द्वारा की जाने वाली उपासनादि क्रियाओ की आवश्यकता नहीं है। अत वृत्तिकार जो ब्रह्मज्ञान के बाद उपासनादि क्रियाओ का प्रतिपादन करना चाहते है वह उचित नहीं है]।

प्रतिबन्धक की निवृत्तिमात्र में ब्रह्मज्ञान का तात्पर्य—

ब्रह्मज्ञान का उपयोग मोक्षप्रतिबन्धक अज्ञान की निवृत्ति करता है इस बात के प्रतिपादन के लिये भाष्यकार आगे कुछ उपनिषद्वाक्यों एवं न्याय के मत का उल्लेख करते हुये लिखते हैं कि—

'त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि (प्र० ६।८) 'श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु (छान्दो० ७।१।३) 'तस्मै मृदितकषायाय तमसः परं पारं दर्शयति भगवान्सनत्कुमारः' (छान्दो० ७।२६।२) इति चैवमाद्याः श्रुतयो मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रमेवात्मज्ञानस्य फलं दर्शयन्ति। तथा चाचार्यप्रणीतं न्यायोपबृंहितं सूत्रम्—'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' (न्या० सू०

'त्वंहि न पिता०' (प्र० ६।८) आप हमारे पिता हैं जो [ब्रह्मज्ञान के द्वारा] हमे अविद्या के पार उतारते हैं [अर्थात् हमारे मोक्षप्रतिबन्धक अज्ञान को ब्रह्मज्ञान द्वारा दूर कराने मे सहायक होते हैं], 'श्रुत ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति०' (छान्दो० ७।१।३) हे भगवन्! मैने आप जैसे ब्रह्मज्ञानियो से यह सुना है कि आत्मा का साक्षात्कार करने वाला शोक के पार पहुँच जाता है [अर्थात् ब्रह्मज्ञान के द्वारा उसके शोकजनक अज्ञान का नाश होकर उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है] हे भगवन्! मैं शोक [अर्थात् अज्ञान] मे पड़ा हुआ हूँ आप मुझे कृपापूर्वक शोक [अर्थात् अज्ञान] के पार पहुँचाइये। 'तस्मैमृदितकषायाय०' (छान्दो० ७।२६।२) जिसने अपने कषायो [अर्थात् राग-द्वेषादि दोषों] को दूर कर दिया है ऐसे उस [नारदमुनि] को भगवान् सनत्कुमार [तमसः अर्थात्] अज्ञान के पार पहुँचाते हैं [अर्थात् ब्रह्मज्ञान के द्वारा अज्ञानका नाश करके मोक्षप्राप्ति के योग्य बनाते हैं], इत्यादि श्रुतिया मोक्ष के प्रतिबन्धक अज्ञान की निवृत्ति मात्र को आत्मज्ञान का फल बताती हैं [अज्ञान की निवृत्ति ही आत्मज्ञान का फल है इस बात के समर्थन के लिये भाष्यकार आगे गौतम के न्यायसूत्र को उद्धृत करते हैं] जैसा कि—आचार्य [गौतम ऋषि] द्वारा निर्मित न्यायदर्शन मे आये हुये निम्नसूत्र [से भी सिद्ध होता है] 'दुःख जन्म०' (न्याय सूत्र १।१।२) अर्थात् १. दुःख, २. जन्म ३. प्रवृत्ति [धर्माधर्मात्मकक्रिया] ४. दोष [अर्थात् राग-द्वेष-मोह] ५. मिथ्याज्ञान के [आत्मज्ञान द्वारा अन्तिम ओर से] अन्तिम अन्तिम का नाश होने से उसके पूर्ववर्ती का नाश होकर अपवर्ग की प्राप्ति होती है [इसका अभिप्राय यह है कि आत्मज्ञान के द्वारा सूत्र मे सबसे अन्तमे आये हुये मिथ्याज्ञान का नाश होता है। उस मिथ्याज्ञान का नाश हो जाने से सूत्र मे

१।१।२) इति । मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाद्भवति—

उसके पूर्ववर्ती 'दोषो' अर्थात् राग, द्वेष, मोहादि का नाश होता है, दोषो का नाश होने से सूत्र मे आये हुये उसके पूर्ववर्त्ती 'प्रवृत्ति' अर्थात् धर्माधर्मादि रूप सस्कारो का नाश होता है। 'प्रवृत्ति' का नाश होने पर सूत्रमे आये हुये उसके पूर्ववर्त्ती 'जन्म' अर्थाम् ससारचक्र का नाश होता है और 'जन्म' के नाश से दुःख का नाश होता है। यह दुःखध्वंस ही मोक्ष है जैसा कि तदत्यन्तविमोक्षोपवर्ग उस दु ख की अत्यन्त निवृत्ति ही अपवर्ग कहलाती है इस न्यायसूत्र मे प्रतिपादन किया गया है] और मिथ्याज्ञान का नाश [जिसे कि सूत्र मे सबसे अन्त मे कहा गया है] जीव और ब्रह्म के अभेदज्ञान से होता है।

[उक्त न्यायसूत्र मे मिथ्याज्ञान के नाश का उपाय स्पष्टरूप से नहीं दिखलाया है किन्तु इसके पूर्व प्रमाणादि षोडश पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोच की प्राप्ति होती है यह बात न्याय के प्रथमसूत्र मे कही जा चुकी है वही तत्त्वज्ञान मिथ्याज्ञान के नाश का कारण बनकर मोक्ष का साधक होता है यह न्यायसूत्रकार का अभिप्राय है। किन्तु भाष्यकार ने यहां मिथ्याज्ञान का नाश जीव और ब्रह्म के अभेदज्ञान द्वारा दिखलाया है यह भाष्यकार का अपना सिद्धान्त है। न्यायसूत्रकार 'ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान 'अर्थात् जीव और ब्रह्म के अभेदज्ञान को न तत्त्वज्ञान मानते हैं और न मोक्ष का साधन। भाष्यकार ने 'दु.खजन्यप्रवृत्ति०' इत्यादि पूर्वोक्त न्यायसूत्र का सम्बन्ध जोड़ कर अपने-मत का समर्थन किया है ऐसा इन पक्तियों से प्रतीत होता है परन्तु वास्तव मे भाष्यकार ने उस सूत्र को केवल इतनी बात की पुष्टि के लिये उद्धृत किया है कि—आत्मज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होता है और वही अपवर्ग का कारण होता है, बीच मे आये हुये जन्म, प्रवृत्ति, दोष इत्यादि मोक्ष के प्रतिबन्धक हैं। उन प्रतिबन्धकों की निवृत्ति ही आत्मज्ञान का फल है। प्रतिबन्धको की निवृत्ति होने पर मोक्ष स्वय सिद्ध हो जाता है।]

'सम्पद्' और 'अध्यास' का भेद—

पिछली पंक्तियों मे भाष्यकार ने 'त्वं हि नः पिता योऽविद्याया परं पारं तारयसि' (प्र० ६।८) इत्यादि कुछ उपनिषद्वाक्यों तथा 'दु.खजन्यप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानां०' इत्यादि न्यायसूत्र (१।१।२) के आधारपर मोक्ष के प्रतिबन्धकीभूत मिथ्याज्ञान के नाश को आत्मज्ञान का फल बतलाया था और उसमे 'आत्मज्ञान' पद की व्याख्या करते हुये उसे 'ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान' अर्थात्

ईश्वर और जीव के अभेदज्ञान या अद्वैत अर्थ का ग्रहण किया था। उपनिषदों मे 'तत्त्वमसि' आदि कुछ ऐसे वाक्य आते हैं जिनसे भाष्यकार जीव और ब्रह्म के अभेदसिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं किन्तु वृत्तिकार ऐसे वाक्यों को मुख्यार्थक न मानकर 'सम्पद्रूप' या 'अध्यासरूप' मानते हैं। जिसका अर्थ यह है कि उनमें प्रतीत होने वाला अभेद उनका वास्तविक मुख्यार्थ नहीं है अपितु गौणार्थ है। जीव मे ब्रह्म का आरोप करके ही उसे ब्रह्म से अभिन्न कहा गया है पर वस्तुत. जीव और ब्रह्म अभिन्न नहीं भिन्न हैं। इस प्रकार का अभेद व्यवहार 'मनो ब्रह्म इत्युपासीत' (छान्दो ३।१८।१) 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेश' (छान्दो० ४।३।१) इत्यादि वाक्यों मे मन और आदित्यादि के साथ भी ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादन किया गया है। किन्तु वह सब जगह आरोपित अभेदमात्र है, वास्तविक नहीं है। और उस अभेद का आरोप प्रतीकोपासना के प्रतिपादन के निमित्त किया गया है। मन की ब्रह्मरूप मे उपासना करे अथवा आदित्य की ब्रह्मरूप मे उपासना करे यहां मन और आदित्य ब्रह्म के प्रतीक स्वरूप है इसीलिये इसे प्रतीकोपासना का प्रतिपादक कहा जाता है। इसी प्रकार जीव और ब्रह्म का अभेदप्रतिपादन करने वाले जितने उपनिषद्वाक्य- मिलते है उन सब मे अभेद वास्तविक नहीं केवल आरोपित अभेद मात्र है और वह प्रतीकोपासना, की उपयोगिता की दृष्टि से ही कहा गया है। इसलिये वह अभेद गौण अभेद है, मुख्य अभेद नहीं। यह वृत्तिकार का अभिप्राय है। इस अभेद को प्रायः तीन भागों मे विभक्त किया जाता है। एक सम्पद्रूप दूसरा अध्यासरूप 'सम्पद्' का लक्षण आरोप्यप्रधानासम्पत् और 'अध्यास' का लक्षण अधिष्ठानप्रधानोऽध्यासः ये किये गये हैं। आरोपस्थल मे आरोप विषय अर्थात् जिस पर आरोप किया जाता है वह और दूसरा दूसरा आरोप्यमाण अर्थात् जिसका आरोप किया जाता है। ये दो पदार्थ होते हैं। आरोपस्थल इन दोनों मे से किसी एक की प्रधानता रहती है और दूसरे की गौणता। इसीके आधार पर 'सम्पद्' और 'अध्यास' का भेद किया गया है। 'सम्पद्रूप' आरोप में 'आरोप्यप्रधानासम्पत्' इस लक्षण के अनुसार आरोप्य अर्थात् जिसका आरोप किया जा रहा है उसकी प्रधानता होती है और 'अध्यास' स्थल मे 'अधिष्ठानप्रधानोऽध्यासः' इस लक्षण के अनुसार जिसपर आरोप किया जा रहा है उसकी प्रधानता होती है। ऊपर दिये हुये उदाहरणों मे से 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत्' यह सम्पद् रूप आरोप का उदाहरण है। उसमें मनके उपर ब्रह्म का आरोप किया गया है और उस आरोप्यमाण ब्रह्म की प्रधानता विवक्षित होने से वह आरोप 'आरोप्यप्रधान' है। और 'आरोप्यप्रधाना सम्पद्' इस

लक्षण के अनुसार सम्पद्रूप कहा जाता है और 'आदित्यो ब्रह्म इत्यादेश' इस दूसरे उदाहरण मे भी यद्यपि आदित्य के ऊपर ब्रह्म का आरोप किया गया है किन्तु उसमे 'आरोप्यमाण ब्रह्म की प्रधानता के बजाय आरोप्यविषय अर्थात् जिसपर आरोप किया जा रहा है उस आदित्य की प्रधानता विवक्षित है इसलिये वह आरोप 'अधिष्ठानप्रधानआरोप' कहलाता है और अधिष्ठान-प्रधानोऽध्यास' वह अध्यासरूप आरोप का उदाहरण बनता है। आरोप्यमाण और आरोप्य विषय इन दोनों की प्रधानता या अप्रधानता विभिन्न स्थलों पर वक्ता की इच्छा के अनुसार होती है। कहा किसकी प्रधानता है? इस बात को परखना साधारणतः कठिन है विद्वानलोग ही उसको परख सकते हैं। ऊपर के उदाहरणों मे 'मनो ब्रह्मइत्युपासीत्' इसको भाष्यकार ने 'सम्पद्रूप आरोप' का उदाहरण माना है इसलिये उसमें आरोप्य अर्थात् ब्रह्म की प्रधानता समझी जाती है और 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेश.' इस दूसरे उदाहरण के अध्यासरूप आरोप का उदाहरण बतलाया है। इसलिये उसमे अधिष्ठान अर्थात् जिसपर आरोप किया जा रहा है उस आदित्य की प्रधानता समझी जाती है। यही सम्पद्रूप आरोप तथा अध्यासरूप आरोप का भेद है।

अभेद का एक और प्रयोजक—

आरोप के इन दो भेदों के अतिरिक्त अभेद का 'प्रयोजक एक तीसरा भेद और है जिसे 'विशिष्टक्रियायोग निमित्तक व्यवहार' कहा जाता है। इसका उदाहरण है—'वायुर्वावसवर्गः, प्राणोवावसंवर्गः' (छान्दो० ४।३।१) यह उप-निषद्वाक्य है। इसमे वायु और प्राण को 'संवर्ग' रूप कहा गया है। 'संवर्ग' शब्द का अर्थ 'सहरणाद्वा संवरणाद्वा सात्मी भावाद्वायुः संवर्गः इति' इस प्रकार किया जाता है। संवर्जन संग्रहण रूप विशिष्ट क्रिया के योग के आधार पर प्रलय-काल में जिसमें सब पदार्थों का विलय होता है उसे 'संवर्ग' नाम से कहा जाता है। यहाँ वायु को 'संवर्ग' शब्द से ग्रहण किया गया है। जैसा कि भामतीकार ने लिखा है 'बाह्या खलु वायुदेवता वह्न्यादीन् सवृक्ते। महाप्रलयसमये हि वायुर्व-ह्न्यादीन् सवृज्य संहृत्यात्मनि स्थापयति। यथाह द्रविडाचार्यः—'संहरणाद्वा संवरणाद्वा सात्मीभावाद्वायु. संवर्ग.' इति। यहाँ वायु के लिये संवर्ग शब्द का प्रयोग हुआ है। यह प्रयोग विशिष्ट क्रियायोगनिमित्तक व्यवहार का उदाहरण है। अर्थात् वायु के ऊपर संवर्ग का आरोप करके उसे संवर्ग से अभिन्न बतलाया गया है। यह आरोप विशिष्टक्रियायोगनिमित्तक आरोप है। संवर्जन अर्थात् संग्रहणरूप विशिष्ट क्रिया करने वाला होने के कारण वायु को संवर्गरूप या संवर्ग से अभिन्न कहा गया है। अतः यह व्यवहार 'विशिष्टक्रियानिमित्तक व्यवहार' है।

इस प्रकार अभेद व्यवहार के प्रयोजक तीन कारण हुये। सम्पद्रूप आरोप दूसरा अध्यासरूप और तीसरा विशिष्टक्रियानिमित्तक व्यवहार। इन सभी मे आरोप-विषय अर्थात् मन, आदित्य तथा वायु के ऊपर ब्रह्म या संवर्ग का आरोप किया गया है। इसी प्रकार उपनिषदों में जीव और ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादन करने वाले जितने वाक्य मिलते हैं उनमें प्रतीत होने वाला अभेद वास्तविक अभेद नहीं किन्तु आरोपित अभेद मात्र है और उसका अन्तर्भाव इनमे से किसी भी एक प्रकार के अन्तर्गत अवश्य हो जाता है। यह सब आरोपित अभेद केवल उपासना की सुकरता के लिये किये गये हैं, वास्तविक नहीं है। इसलिये उपनिषदो के कुछ वाक्यों मे प्रतीयमान जीव और ब्रह्म का अभेद वास्तविक अभेद नहीं है केवल उपासना की सुकरता के लिये उस अभेद का आरोप किया गया है। यह आरोपित अभेद उपासनामार्ग मे उपयोगी होता है। इसलिये वह भक्ति मार्ग का द्योतक है। यह वृत्तिकार का अभिप्राय है।

जीव और ब्रह्म की अभेद बुद्धि से उपासना का फल—

उपनिषदो मे आये हुये जीव और ब्रह्म के अभेद प्रतिपादक वाक्यो को वृत्तिकार मुख्यार्थक अथवा वास्तविक अभेद का बोधक न मानकर लाक्षणिक वाक्य मानते हैं। उपासना की सरलता के लिये उनका प्रयोग लक्षणा द्वारा किया गया है, ऐसा वृत्तिकार का अभिप्राय है। इस लाक्षणिक या आरोपित अभेद व्यवहार या अभिन्नरूप में उनकी उपासना का क्या प्रयोजन हो सकता है इसको वृत्तिकार 'आज्ञावेक्षणवतकर्माङ्ग सस्काररूप' मानकर स्पष्ट करते हैं— उनका अभिप्राय यह है कि कर्मकाण्ड में 'दर्शपौर्णमास याग' के प्रसंग मे 'पत्नी आज्यमवेक्षेत' इस प्रकार का एक विधिवाक्य मिलता है। जिसका अर्थ यह है कि 'यजमान की पत्नी याग मे प्रयुक्त होने वाले 'आज्य' अर्थात् घृत को देखे'। यहाँ पत्नी द्वारा घृत के देखे जाने का जो विधान किया गया है उसका प्रयोजन घृत मे संभावित किसी दोष कूड़े-करकट आदि का परिहार करना है। अर्थात् घी मे यदि कोई तिनका-मक्खी आदि पड़ गई हो तो पत्नी उसे देख कर निकाल दे और यज्ञ मे प्रयुक्त होने वाला घृत पूर्णतया शुद्ध एवं सुसंस्कृत घृत बन जाय। इस प्रकार इस आज्ञावेक्षण रूपकर्म का फल कर्म के अंगभूत अर्थात् यज्ञ के उपयोगी घृत का संस्कार करना है। अर्थात् आज्ञावेक्षण का यह विधान 'कर्माङ्गसस्कार' के निमित्त किया गया है। इसी प्रकार उपनिषदों मे जो जीव और ब्रह्म की अभेद बुद्धि से दर्शन का जो विधान यत्र तत्र पाया जाता है वह उपासनारूप कर्म के अगभूत जीवात्मा के सस्कार के लिये किया गया है।

वास्तविक अभेद को प्रतिपादन करना उनका प्रयोजन नहीं है। यह वृत्तिकार का अभिप्राय है।

ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान की सम्पदादिरूपता का निराकरण—

ऊपर की पंक्तियों मे हमने यह दिखलाया है कि वृत्तिकार बोधायन या उपवर्ष जीव और ब्रह्म के अभेदवादी सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते हैं, वे जीव और ब्रह्म अर्थात् ईश्वर के बीच वास्तविक भेद मानते है। यदि किन्हीं उपनिषद्वाक्यों में जीव और ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादन दिखलाई देता है तो वह लाक्षणिक अभेद है। वास्तविक अभेद नहीं। लाक्षणिक या गौण अभेद होने के कारण वे उसे या तो सम्पद्रूप आरोप [आरोप्यप्रधाना सम्पद्] अथवा अध्यासरूप आरोप [अधिष्ठानप्रधानोऽध्यास] का विषय मानते है। अर्थात् वह भेद आरोपित अभेद मात्र है अथवा जहाँ जीव आत्मा के लिये 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग हुआ है वह 'व्रीहि वृद्धौ' धातु के योग से इन्द्रियादि अपने आश्रित पदार्थों से बड़ा होने के कारण 'विशिष्टक्रियायोगनिमित्तक व्यवहार' का उदाहरण है। इन सभी रूपों मे उपासना की सरलता के लिये लाक्षणिक अथवा गौण रूप से जीव और ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादन किया गया है। वास्तविक अभेद के बोधन मे उनका तात्पर्य नहीं है। इस सब उपासना का फल कर्माङ्गसंस्कार अर्थात् उपासनाकाण्ड के अंगभूत जीवात्मा का संस्कार करना है। इसलिये जीव और ब्रह्म का अभेदबोधन करना उपनिषदो का प्रयोजन नहीं है। वे दोनों वास्तव मे भिन्न तत्त्व हैं। जीवात्मा उपासक तत्त्व है। और ब्रह्म अर्थात् परमात्मा या ईश्वर उपास्य तत्त्व है। इस प्रकार उपनिषदों मे उपासना मार्ग का ही प्रतिपादन किया गया है यह वृत्तिकार का मत है।

किन्तु भाष्यकार इससे सहमत नहीं। उन्होंने वृत्तिकार बोधायन की इन चारों बातों का खण्डन किया है। उनका कहना यह है कि यदि वृत्तिकार का मत मान लिया जाय तो उसमे तीन प्रकार के दोष आ जावेंगे। पहला दोष यह है कि 'तत्त्वमसि' (छान्दो० ६।८।७), 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृहदा० १४।१०) 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृह० २।५।१९) इत्येवमादीना वाक्यानां ब्रह्मात्मैकत्व-वस्तु प्रतिपादन परः पदसमन्वयः पीड्येत। अर्थात् अभेद प्रतिपादक वाक्यों का अर्थ करने मे खींचातानी करनी पड़ेगी। दूसरा दोष यह है कि 'अविद्यानिवृत्ति-फलश्रवणान्युपरुध्येरन्'। अर्थात् उपनिषदो मे आत्मज्ञान का फल जो अविद्या की निवृत्ति रूप बतलाया गया है वह बाधित होगा क्योकि उपासना मार्ग को मानने पर आत्मज्ञान का फल अविद्या निवृत्ति के बजाय उपासना ठहरेगा। इसलिये उपनिषदों मे जो अविद्यानिवृत्ति को आत्मज्ञान का फल कहा गया है

१ न चेदं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं संपद्रूपम्। यथा 'अनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति' (बृह० ३।१।६) इति।

२ न चाध्यासरूपम्। यथा 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत (छान्दो० ३।१८।१) 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः (छान्दो० ३।१६।१) इति च मन आदित्यादिषु ब्रह्मदृष्ट्यध्यासः। नापि विशिष्टक्रिया-

---

वह खण्डित हो जायेगा। तीसरा दोष यह है कि 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैवभवति' (मुण्डको० ३।२।६) इति चैवमादीनि तद्भावापत्ति वचनानि संपदादिपक्षे न सामञ्जस्येनोपपद्येरन् अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाला ब्रह्मरूप ही हो जाता है यह जो बात उपनिषदों मे कही गई है उसका उपासनाकाण्ड मे ठीक तरह से समन्वय नहीं हो सकेगा क्योकि उपासनाकाण्ड मे ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान के बाद भी जीव और ब्रह्म मे उपासक तथा उपास्य का भेद बना रहेगा इसलिये इस पक्ष मे ब्रह्मज्ञानियो की 'तद्भावापत्ति' अर्थात् ब्रह्मरूपता की प्राप्ति का समन्वय नहीं बनेगा। इस प्रकार जीव और ब्रह्म के बीच भेद को ही वास्तविक मानने पर और उपनिषदो को उपासनापरक मानने पर तीन दोष आ जाते हैं इसलिये उपासना मार्ग के अनुयायी और जीव तथा ब्रह्म का भेद माननेवाले वृत्तिकार का मत ठीक नहीं है यह भाष्यकार का सिद्धान्त पक्ष है। अपने इस सिद्धान्त पक्ष को प्रस्तुत करते हुये वे लिखते हैं कि—

(१) और यह [उपनिषदो मे प्रतिपादित] जीव तथा ब्रह्म का अभेदज्ञान 'सपद्रूप' [आरोप्यप्रधानासम्पत] नहीं है। जैसे 'मन अनन्त है और विश्वेदेव भी अनन्त हैं' [इसलिये जो मन की विश्वेदेव के रूप मे उपासना करता है] वह उससे अनन्त लोको को विजय करता है [यह आरोप्यप्रधानासम्पद इस लक्षण के अनुसार 'सम्पत्' का उदाहरण है। उसमें मन के ऊपर विश्वेदेव का आरोप किया गया है, और उस आरोप्यमाण विश्वेदेव की प्रधानता विवक्षित है। इसलिये वह आरोप्यप्रधानासम्पत् का उदाहरण है किन्तु 'तत्त्वमस्यादि' जीव और ब्रह्म के अभेद प्रतिपादक वाक्य इस कोटि मे नहीं आते हैं]। (२) और वह [ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान] 'अध्यास' [अधिष्ठानप्रधानोऽध्यासः] रूप भी नहीं है। जैसे 'मन की ब्रह्मरूप मे उपासना करें'। 'आदित्य ब्रह्मरूप है यह उपदेश है' इत्यादि मे मन तथा आदित्य आदि मे जो ब्रह्मदृष्टि कही गई है वह [अधिष्ठान की प्रधानता के कारण 'अधिष्ठानप्रधानोऽध्यास.' इस

योगनिमित्तं 'वायुर्वाव संवर्गः' 'प्राणो वाव संवर्गः' (छान्दो० ४।३।१) इतिवत् । नाप्याज्यावेक्षणादिकर्मवत्कर्माङ्गसंस्कार-रूपम् । संपदादि रूपे हि ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेऽभ्युपगम्यमाने 'तत्त्वमसि' (छान्दो० ६।८।७) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृह० १।४।१०) 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृह० २।५।१९) इत्येवमादीनां वाक्यानां ब्रह्मात्मैकत्ववस्तुप्रतिपादनपरः पदसमन्वयः पीड्येत । 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' (मुण्ड० २।२।८) इति चैव-मादीन्यविद्यानिवृत्तिफलश्रवणान्युपरुध्येरन् । 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुण्ड ३।२।९) इति चैवमादीनि तद्भावापत्तिवचनानि

लक्षण के अनुसार अध्यास रूप है। किन्तु तत्त्वमसि आदि वाक्यो मे इस प्रकार का अध्यासमूलक अभेद व्यवहार भी नहीं है] (३) और 'न वायु संवर्ग है' 'प्राण संवर्ग है' इत्यादि के समान [यह ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञान] 'विशिष्टक्रिया-योग निमित्तक व्यवहार' भी नहीं है (४) और [दर्शपूर्णमासयाग मे यजमान की] 'पत्नी घृत को देखे' इत्यादिक के समान [ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान अथवा आत्मदर्शन] 'कर्माङ्ग सस्काररूप' भी नहीं है [अर्थात् कर्म के अगभूत जीवात्मा के सस्कार के लिये भी नहीं है] क्योंकि ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान [जीव और ब्रह्म के अभेदज्ञान] को सम्पदादिरूप मानने पर [निम्न तीन दोष होगे]. (१) 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्यों का [जीव ब्रह्म के] अभेद का प्रतिपादन करनेवाले पदो का समन्वय पीडित होगा [अर्थात् उनका वाच्यार्थ न लेकर लक्षणा आदि द्वारा दूसरे प्रकार से उनकी सगति लगानी होगी। यह पहला दोष होगा] (२) 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया' (मु० २।२।८) 'अर्थात् उस अनादि अनन्त ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर हृदय की ग्रन्थि स्वय खुल जाती है और सारे संशय स्वयं नष्ट हो जाते है' इत्यादि वाक्यो द्वारा कहे गये अविद्यानिवृत्ति रूप फल का श्रवण भी बाधित होगा [क्योंकि उपासनामार्गियों के सिद्धान्त को मानने पर आत्मज्ञान का फल अविद्या निवृत्ति के बजाय उपासना ठहरेगा। इसलिये आत्मज्ञान का जो अविद्यानिवृत्ति-रूपफल उपनिषदों में प्रतिपादित किया गया है वह बाधित हो जावेगा यह दूसरा दोष है]। (३) और ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्मरूप ही हो जाता है इस प्रकार के

संपदादिपक्षे न सामञ्जस्येनोपपद्येरन्। तस्मान्न संपदादिरूपं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानम्। अतोन पुरुषव्यापारतन्त्रा ब्रह्मविद्या। किं तर्हि प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयवस्तुज्ञानवद्वस्तुतन्त्रा।

निषदों मे प्रतिपादित] ब्रह्मरूपता प्राप्ति के वचन सम्पदादिपक्ष मे ठीक तरह से सगत नहीं हो सकेंगे [क्योंकि उपासना मार्ग को मानने पर आत्मज्ञान के बाद भी उपास्य और उपासक का भेद बना रहेगा। जीवात्मा को ब्रह्मरूपता की प्राप्ति नहीं हो सकेगी] इसलिये जीव और ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादन [जो उपनिषदो मे किया गया है वह] सम्पदादिरूप [एक सम्पद्रूप दूसरा अध्यासरूप तीसरा विशिष्ट क्रियायोग निमित्तक व्यवहार रूप और चौथा कर्माङ्ग संस्काररूप] नहीं है।

इसलिये ब्रह्मविद्या पुरुष के व्यापार के आधीन नहीं है।

प्रश्न—तो फिर कैसी है?

उत्तर—किन्तु प्रत्यक्षादि प्रमाण से प्रतीत होने वाली वस्तु के ज्ञान के सदृश 'वस्तुतन्त्र' [वस्तु के अधीन] है।

ब्रह्म के साथ किसी भी क्रिया का सम्बन्ध नहीं हो सकता है—

यहां तक भाष्यकार ने यह सिद्ध किया कि ब्रह्म और आत्मा का ज्ञान सम्पदादिरूप अर्थात् गौण नहीं है। इसलिये उसे उपासना क्रिया का अंग नहीं कह सकते हैं। और ब्रह्मविद्या पुरुष व्यापार के अधीन नहीं है अपितु वस्तुतन्त्र है अर्थात् जैसी वस्तु है उसको यदि उसी रूप में ग्रहण किया जावेगा तब तो वह यथार्थ ज्ञान कहलायेगा और यदि पुरुष अपनी इच्छा के अनुसार उच्छृङ्खलतावश पुस्तक को घट कहने लगे तो वह यथार्थ ज्ञान नहीं होगा। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उत्पन्न यथार्थज्ञान सदा 'वस्तुतन्त्र' ही होता है अर्थात् जैसी वस्तु है उसको उसीरूप मे ग्रहण करने वाला ज्ञान 'वस्तुतन्त्र' कहलाता है। उसमे पुरुष व्यापार—पुरुष की अपनी इच्छा—काम नहीं देती है इसलिये वह यथार्थज्ञान पुरुष व्यापारतन्त्र नहीं होता। इसी प्रकार ब्रह्मविद्या भी पुरुष व्यापारतन्त्र नहीं है जैसा ब्रह्म है उसको उसी रूप मे ग्रहण करने वाला ज्ञान यथार्थ ज्ञान होता है। ऊपर जो सम्पदादिरूप ज्ञान कहे गये हैं वे सब वस्तुतन्त्र नहीं अपितु पुरुष व्यापारतन्त्र है। 'मन की ब्रह्मरूप मे उपासना करें' 'मनो ब्रह्मइत्युपासीत्' (छान्दो० ३।१८।१) इत्यादि जिन ज्ञानों की चर्चा सम्पदादि के रूप मे पहले की गई है वे सब वस्तुतन्त्र नहीं, अपितु पुरुषव्यापारतन्त्र हैं। मन को मन समझना यह तो वस्तुतन्त्र और यथार्थज्ञान है

एवंभूतस्य ब्रह्मणस्तज्ज्ञानस्य च न कयाचिद्युक्त्या शक्यः कार्यानुप्रवेशः कल्पयितुम्। न च विदिक्रियाकर्मत्वेन कार्यानुप्रवेशो ब्रह्मणः। 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' (केन० १।३) इति विदिक्रियाकर्मत्वप्रतिषेधात्। 'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् (बृह० २।४।१३) इति च। तथोपास्तिक्रियाकर्मत्वप्रतिषेधोऽपि भवति—'यद्वाचानभ्युदितं

किन्तु मन को ब्रह्म समझना इसका वस्तु के स्वरूप से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह पुरुष के व्यापाराधीन है। पुरुष चाहे उसे ब्रह्म समझ ले, चाहे उसे घट, पट समझ ले यह सब पुरुष की कल्पना मात्र है। अत पुरुष व्यापारतन्त्र हैं इसलिये अयथार्थ ज्ञान है और ब्रह्मविद्या पुरुष व्यापारतन्त्र नहीं अपितु वस्तुतन्त्र है इसलिये वह यथार्थ ज्ञान है। अब आगे भाष्यकार यह दिखलायेंगे कि इस प्रकार की ब्रह्मविद्या के साथ किसी प्रकार की क्रिया का सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता है। अर्थात् ब्रह्म को किसी क्रिया का कर्म आदि नहीं माना जा सकता है। इसी बात को वे निम्न प्रकार प्रस्तुत करते हैं।

इस प्रकार ब्रह्म या उसके ज्ञान के साथ किसी भी युक्ति से कार्य [अर्थात् क्रिया की अंगता] का सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता है [इस पर पूर्वपक्षी यह शका कर सकता है कि ब्रह्म का ज्ञान अपेक्षित होने से उसे 'विदिक्रिया का कर्म' तो मानना ही होगा किन्तु भाष्यकार उसका खण्डन करते हुये आगे लिखते हैं कि] विदिक्रिया के कर्मरूप मे भी ब्रह्म के साथ [क्रिया का सम्बन्ध] नहीं हो सकता है क्यों कि [उपनिषद्वाक्यों मे कहा है कि] 'वह [ब्रह्म] विदित विदिक्रिया के कर्मरूप वेद्य [ज्ञेय] पदार्थों से भिन्न है और अविदित [अज्ञात्] पदार्थों से भी भिन्न है' इत्यादि श्रुतियो के द्वारा उसकी विदिक्रिया की कर्मता का निषेध होने से [ब्रह्म को विदिक्रिया का कर्म नहीं कहा जा सकता है] और 'जिससे इस बात का ज्ञान होता है उसको ब्रह्म किस साधन से जानोगे?' [अर्थात् किसी मार्ग से उसको नहीं जाना जा सकता है] इस श्रुति से भी [ब्रह्म की विदिक्रियाकर्मता का निषेध किया गया है इसलिये विदिक्रिया के कर्म रूप मे भी ब्रह्म के साथ क्रिया का सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता है]।

और उपासना क्रिया के कर्मरूप मे भी [ब्रह्म के साथ क्रिया का सम्बन्ध] नहीं हो सकता है क्योंकि 'जिसका वाणी वर्णन नहीं कर सकती है और जिसके द्वारा वाणी स्वय अपने स्वरूप को प्राप्त करती है। इस प्रकार ब्रह्म की [किसी

येन वागभ्युद्यते' इत्यविषयत्वं ब्रह्मण उपन्यस्य, 'तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते (केन० १।४) इति। अविषयत्वे ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वानुपपत्तिरिति चेत्! न। अविद्याकल्पित-भेदनिवृत्तिपरत्वाच्छास्त्रस्य। न हि शास्त्रमिदन्तया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषति। किं तर्हि प्रत्यगात्मत्वेनाविषयतया प्रतिपादयदविद्याकल्पितं वेद्य-वेदितृ-वेदनादिभेदमपनयति। तथा च शास्त्रम्—'यस्याऽमतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् (केन० २।३) 'न

भी क्रिया की] विषयता का निषेध करके फिर उसी को तुम ब्रह्म समझो। यह जिसकी कि उपासना की जाती है ब्रह्म नहीं है इत्यादि श्रुतियों के द्वारा उपासना क्रिया की कर्मता का भी निषेध किया गया है।

प्रश्न—यदि ब्रह्म को अविषय कहा जाय तो उसमें शास्त्रयोनित्व अर्थात् शास्त्रप्रतिपाद्यत्व भी नहीं बनेगा [क्योंकि शास्त्र जिसका प्रतिपादन करता है वह उसका विषय कहा जाता है। यदि ब्रह्म विषय नहीं है तो वह शास्त्रप्रति-पाद्य भी नहीं हो सकता है। यह पूर्व पक्षी के प्रश्न का आशय है। आगे भाष्यकार इसका उत्तर देते हैं कि]—

उत्तर—यदि ऐसा कहा जाय तो उत्तर यह है कि शास्त्र केवल अविद्या-कल्पित भेद की [अर्थात् जीव और ब्रह्म के भेद की] निवृत्ति मात्र करते हैं। ब्रह्म ऐसा है इस रूप मे उसके स्वरूप का प्रतिपादन नहीं करते हैं [इसलिये अविद्याकल्पित भेदनिवृत्ति वाले अंश मे शास्त्र प्रतिपाद्यत्व या शास्त्रयोनित्व की उपपत्ति हो जाती है और 'इदमित्थ तया' 'ब्रह्म ऐसा है' इस प्रकार ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन न करने के कारण उसकी अविषयता का भी उपपादन हो जाता है। इन दोनो बातो मे कोई विरोध नहीं रहता है]।

प्रश्न—तो फिर किस रूप मे शास्त्र ब्रह्म का प्रतिपादन करता है।

उत्तर—प्रत्यगात्मा [अर्थात् जीवात्मा] रूप होने से अविषय रूप मे ब्रह्म का प्रतिपादन करते हुये केवल अविद्याकल्पित वेद्य, वेदिता आदि के भेद का निषेध करने मे शास्त्र का तात्पर्य है। जैसा कि शास्त्र [उपनिषद्] मे कहा है कि जो उस ब्रह्म को [अमतम्] अविज्ञात मानता है वही उसको समझता है और जो [मतम्] ज्ञान मानता है वह उसके स्वरूप को नहीं समझता है। 'ज्ञात समझने वालो के लिये वह ब्रह्म अज्ञात ही है और अज्ञात

दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः', 'न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः' (बृह० ३।४।२) इति चैवमादि । अतोऽविद्याकल्पितसंसारित्वनिवर्तनेन नित्यमुक्तात्मस्वरूपसमर्पणान्नमोक्षस्यानित्यत्वदोषः ।

समझने वालो के लिये ही वह ज्ञात है' (केन० २।३) । 'द्रष्टा' [मन आदि अन्त करण के] साक्षीभूत [ब्रह्म या आत्मा] को नहीं देख सकते हो और ज्ञान के साक्षीभूत ब्रह्म को नहीं जान सकते हो (बृह० ३।४।२) इत्यादि [श्रुतियो या उपनिपद्वाक्यों से ब्रह्म की विपयता का स्पष्ट निषेध किया गया है इसलिये उसके साथ विदिक्रिया या उपासना क्रिया आदि के कर्मरूप सम्बन्ध को भी नहीं जोड़ा जा सकता है अर्थात् वृत्तिकार जो ब्रह्म अथवा उसके ज्ञान को उपासनाक्रिया के अगरूप मे मानना चाहते हैं वह उचित नहीं है]

इसलिये अविद्याकल्पित ससारित्व [अर्थात् सुख दु खमयत्व] की निवृत्ति-द्वारा नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव ब्रह्म के स्वरूप का द्योतन होने से मोक्ष की अनित्यता भी नही होती है [इसलिये ब्रह्म के साथ किसी भी रूप मे क्रिया का सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता है । यदि उपासनादि रूप किसी भी क्रिया का सम्बन्ध जोड़ा जावेगा और उस क्रिया के द्वारा मोक्ष की सिद्धि मानी जाएगी तो मोक्ष अनित्य हो जावेगा अतः ब्रह्म के साथ उपासनादि किसी क्रिया का सम्बन्ध नहीं हो सकता है इसलिये वृत्तिकार का मत ठीक नहीं है]

चतुर्विध कर्मता ब्रह्म में असम्भव है—

व्याकरण के अनुसार जहां कर्मकारक अर्थात् द्वितीया विभक्ति का विधान होता है, वे 'कर्मकारक' चार प्रकार के होते हैं । 'उत्पाद्यं च विकार्यञ्च प्राप्यं संस्कार्यमेव च ।' एक उपाद्यकर्म जैसे 'घट करोति' । यहा घट कृ धातुका उत्पाद्य कर्म है क्योकि पहले से अविद्यमान घट की उत्पत्ति होती है इसलिये 'घटम्' यह उत्पाद्य कर्म हुआ । दूसरा विकार्य कर्म होता है । जैसे 'ओदन पचति' यहा चावल मे विकार होकर भात बन जाता है इसलिये भारत का वाचक ओदनं पद पच धातु का विकार्य कर्म है । जितने उत्पाद्य कर्म या विकार्य कर्म होते हैं वे सब अनित्य होते हैं इसलिये भाष्यकार का कहना है कि ब्रह्म या ब्रह्मरूपता प्राप्ति रूप मोक्ष को न उत्पाद्य कर्म कहा जा सकता है न विकार्य कर्म । क्योकि इन दोनों पक्षो मे ब्रह्म या मोक्ष मे अनित्यता आ जावेगी । तीसरा 'प्राप्यकर्म' होता है जैसे 'ग्रामं गच्छति' इससे 'ग्राम' पद गम धातु का प्राप्य कर्म है क्यों कि पुरुष के गमन व्यापार से न तो ग्राम उत्पन्न होता है

यस्य तूत्पाद्यो मोक्षस्तस्य मानसं, वाचिकं, कायिकं वा कार्यमपेक्षेत इति युक्तम्। तथा विकार्यत्वे च तयोः पक्षयोर्मोक्षस्य ध्रुवमनित्यत्वम्। नहि दध्यादि विकार्यं, उत्पाद्यं वा घटादि, नित्यं दृष्टं लोके। न चाप्यत्वेनापि कार्यापेक्षा, स्वात्मस्व-

---

और न उसमें कोई विकार होता है इसलिये न वह उत्पाद्य कर्म है और न विकार्य कर्म अपितु प्राप्य कर्म है किन्तु ब्रह्म को हम प्राप्य कर्म भी नहीं मान सकते क्यों कि ब्रह्म तो सर्वव्यापक है। वह तो सब जगह पहले से ही प्राप्त है। यदि उसे जीवात्मा का स्वरूपभूत मानें तो भी वह पहले से प्राप्त है इसलिये प्राप्य कर्म नहीं हो सकता और यदि जीवात्मा के स्वरूप से ब्रह्म को भिन्न मानें तो भी सर्वव्यापक होने से वह सर्वत्र पहले से ही प्राप्त है। इसलिये ब्रह्म प्राप्य कर्म भी नहीं। अब कर्म का चौथा भेद रह जाता है। संस्कार्य कर्म। सो ब्रह्म संस्कार्य कर्म भी नहीं है। क्यों कि संस्कार दो प्रकार का होता है। एक गुणाधानरूप संस्कार और दूसरा दोषापनयनरूप संस्कार। ब्रह्म मे गुणाधान रूप संस्कार मानने पर वह कूटस्थ नित्य नहीं रह सकेगा अनित्य हो जावेगा इसलिये उसमे गुणाधान रूप संस्कार नहीं माना जा सकता है और ब्रह्म के नित्यनिर्दुष्ट होने से उसमें दोषापनयनरूप संस्कार भी नहीं माना जा सकता है इसलिये ब्रह्म संस्कार्य कर्म भी नहीं हो सकता है। इस प्रकार ब्रह्म मे किसी भी प्रकार की कर्मता सभव न होने से उसे उपासनादि किसी क्रिया का उसके साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता है यह भाष्यकार का अभिप्राय है। अपने इस अभिप्राय को भाष्यकार अगली पक्तियों मे निम्न प्रकार प्रस्तुत करते है—

१. जिसके मत मे मोक्ष उत्पाद्य हो उसी के मत मे उसके लिये कायिक, वाचिक अथवा मानसिक कर्म की आवश्यकता हो सकती है [किन्तु जो मोक्ष को नित्य मानते हैं उनके मत मे किसी प्रकार की क्रिया का सम्बन्ध मोक्ष से नहीं जोड़ा जा सकता है] और [मोक्ष या ब्रह्म भाव के] २. विकार्य मानने पर भी [क्रिया की आवश्यकता हो सकती है किन्तु] उन दोनो पक्षों मे मोक्ष निश्चय ही अनित्य हो जावेगा क्यो कि घटादि रूप कोई भी उत्पाद्य पदार्थ अथवा दध्यादि रूप कोई भी विकार्य पदार्थ संसार मे नित्य नहीं देखा जाता [अनित्य ही होता है] और प्राप्य कर्म के रूप मे भी क्रिया की आवश्यकता नहीं हो सकती है क्योंकि [मोक्ष या ब्रह्म के] जीवात्मा के स्वरूपभूत होने पर [पूर्व से ही प्राप्त होने के कारण] ३. प्राप्य कर्म नहीं हो सकता। और

रूपत्वे सत्यनाप्यत्वात् स्वरूपव्यतिरिक्तत्वेऽपि ब्रह्मणो नाप्यत्वम्, सर्वगतत्वेन नित्याप्तस्वरूपत्वात्सर्वेण ब्रह्मणः, आकाशस्येव। नापि संस्कार्यो मोक्षः, येन न व्यापारमपेक्षेत। संस्कारो हि नाम संस्कार्यस्य गुणाधानेन वा स्याद्दोषापनयनेन वा। न तावद्गुणाधानेन संभवति, अनाधेयातिशयब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य। नापि दोषापनयनेन, नित्यशुद्धब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य।

स्वात्मधर्म एव संस्तिरोभूतो मोक्षः क्रिययात्मनि संस्क्रियमाणोऽभिव्यज्यते, यथाऽऽदर्शे निघर्षणक्रियया संस्क्रियमाणे भास्वरत्वं धर्म इति चेत्।

जीवात्मा के स्वरूप से भिन्न होने पर भी आकाश के समान ब्रह्म के सर्वव्यापक होने से पहले से प्राप्त होने के कारण प्राप्य कर्म के रूप मे भी क्रिया का सम्बन्ध उसके साथ नहीं हो सकता ४. और मोक्ष संस्कार्य कर्म भी नहीं है कि [संस्कार्य कर्म के रूप मे भी] संस्कार की आवश्यकता हो क्योकि संस्कार्य पदार्थ मे संस्कार दो प्रकार का होता है। एक गुणाधानरूप संस्कार और दूसरा दोषापनयनरूप संस्कार उनमे से [मोक्ष या ब्रह्म मे] गुणाधान रूप संस्कार भी संभव नहीं है क्योकि मोक्ष अनाधेयातिशय [जिसमें किसी प्रकार के अतिशय अर्थात् गुणाधान की आवश्यकता नहीं रहती है इस प्रकार का] ब्रह्म स्वरूप है और न दोषापनयनरूप संस्कार हो सकता है क्यो कि मोक्ष नित्य शुद्ध रूप ही है।

शंका—अच्छा, मोक्ष आत्मस्वरूप होने पर भी [अविद्या के कारण] तिरोभूतस्वरूप हो जाने पर [उपासनादि] क्रियाओं के द्वारा संस्कृत होकर फिर से अभिव्यक्त होता है जैसे [दर्पण का] भास्वरत्व [चमकीलापन] धर्म [श्वास या फूंक मारने आदि के कारण दर्पण के मलिन हो जाने पर तिरोभूत होकर कपड़े से] रगड़ने की क्रिया के द्वारा [दर्पण का भास्वरत्व धर्म] अभिव्यक्त होता है [इसी प्रकार जीवात्मा का स्वरूपभूत मोक्ष भी अविद्यावश तिरोभूत हो जाने पर उपासनादि क्रिया के द्वारा आत्मा के संस्कृत होने पर उसमें अभिव्यक्त होता है इसलिये मोक्ष को संस्कार्य कर्म कहा जा सकता है]

उत्तर—यदि यह कहा जाय तो वह ठीक नहीं है क्यों कि ब्रह्म में क्रियाश्रयत्व ही नहीं बनता है [अर्थात् ब्रह्म किसी क्रिया का आधार या आश्रय

न। क्रियाश्रयत्वानुपपत्तेरात्मनः।

यदाश्रया हि क्रिया तमविकुर्वती नैवात्मानं लभते। यद्यात्मा क्रियया विक्रियेतानित्यत्वमात्मनः प्रसज्येत। 'अविकार्योऽयमुच्यते' इति चैवमादीनि वाक्यानि बाध्येरन्। तच्चानिष्टम्। तस्मान्न स्वाश्रया क्रियाऽऽत्मनः संभवति। अन्याश्रयायास्तु क्रियाया अविषयत्वान्न तयात्मा संस्क्रियते।

ननु देहाश्रयया, स्नानाचमनयज्ञोपवीतादिकया क्रियया देही संस्क्रियमाणो दृष्टः। न। देहादिसंहतस्यैवाविद्यागृहीतस्यात्मनः संस्क्रियमाणत्वात्। प्रत्यक्षं हि स्नानाचमनादेर्देहसमवायित्वम्। तया देहाश्रयया तत्संहत एव कश्चिदवि-

---

नहीं हो सकता है, क्योंकि क्रिया जिसमे रहतो है उसमे विकार पैदा किये बिना] उस [क्रिया] की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती है। और यदि क्रिया के द्वारा आत्मा मे विकार माना जाय तो आत्मा अनित्य हो जावेगा और फलस्वरूप 'यह आत्मा अविकार्य है' इत्यादि उपनिषद्वाक्यो का विरोध होगा। वह इष्ट नहीं है। इसलिये आत्मा में स्वाश्रित क्रिया नहीं रह सकती है। [इस कारण उसमे स्वाश्रित क्रिया से गुणाधान भी नहीं बन सकता है] और दूसरे मे रहने वाली क्रिया का विषय आत्मा नहीं होता है इसलिये उस [अन्याश्रित क्रिया] के द्वारा भी ब्रह्म का संस्कार नहीं हो सकता [इसलिये दर्पण के भास्वरत्व धर्म के समान आत्मा मे उपासनादि क्रिया के द्वारा संस्कार होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है यह भी वृत्तिकार का मत ठीक नहीं है।]

प्रश्न—देह मे रहने वाली स्नान, आचमन, यज्ञोपवीतादि क्रियाओं के द्वारा देही अर्थात् आत्मा का सस्कार देखा जाता है [इसी प्रकार अन्याश्रित क्रिया के द्वारा प्रत्यगात्मा मे सस्कार हो सकता है यह प्रश्नकर्त्ता का आशय है। भाष्यकार इस प्रश्न का उत्तर देते हुये आगे कहते हैं कि]

उत्तर—कहते हैं कि आपका कहना ठीक नहीं है क्योंकि वहाँ देहादि से संहत और अविद्या मे पड़े हुये आत्मा का ही सस्कार देखा जाता है। स्नान आचमनादि क्रियाओं का देह मे रहना प्रत्यक्ष सिद्ध है। उस देह मे रहने वाली उस क्रिया के द्वारा देहादि मे सहत और केवल अविद्यावश आत्मरूप मे गृहीत

द्यात्मत्वेन परिगृहीतः संस्क्रियत इति युक्तम् । यथा देहाश्रय-चिकित्सानिमित्तेन धातुसाम्येन तत्संहतस्य तदभिमानिन आरोग्यफलम्, अहमरोग इति यत्र बुद्धिरुत्पद्यते । एवं स्नानाचमनयज्ञोपवीतादिना अहं शुद्धः संस्कृत इति यत्र बुद्धिरुत्पद्यते स संस्क्रियते । स च देहेन संहत एव । तेनैव ह्यहं कर्त्राहंप्रत्ययविषयेण प्रत्ययिना सर्वाः क्रिया निर्वर्त्यन्ते । तत्फलं च स एवाश्नाति 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' (मुण्ड० ३।१।१) इति मन्त्रवर्णात् । 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' (कठ० १।३।४) इति च । तथा 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' (श्वेता० ६।११) इति । 'स पर्यगाच्छुक्रमकाय-

---

होने वाले का सस्कार होता है [शुद्ध आत्मा का संस्कार नहीं होता] जैसे देह की चिकित्सा द्वारा उत्पन्न होने वाले धातुसाम्य [वात पित्त कफ की समता] से शरीर में सहत और आत्माभिमान करने वाले [किसी अनात्मा शुद्ध आत्मा से भिन्न] को ही मै नीरोग हो गया हूँ इस प्रकार का आरोग्यफल [का अभिमान होता है या] बुद्धि उत्पन्न होती है । इसी प्रकार स्नान आचमन यज्ञोपवीत आदि के द्वारा 'मैं संस्कृत हुआ हूँ' इस प्रकार की बुद्धि जहाँ उत्पन्न होती है उसी [जीवात्मा] का संस्कार होता है [शुद्ध आत्मा का सस्कार नहीं होता] वह देह में संहत [जीवात्मा] ही है । अहंकार के करने वाले अहम् प्रत्यय के विषयभूत ज्ञाता उसी [जीवात्मा] के द्वारा सारी क्रियाओ का सम्पादन किया जाता है और उसके फल का भोग भी वही करता है । क्योकि 'उन दोनों [जीव तथा ईश्वर] में से एक [अर्थात् जीवात्मा—'पिप्पलं स्वादु अत्ति'] स्वादिष्ट कर्मफलों का भोग करता है और [अन्यः अर्थात्] दूसरा [ईश्वर] भोग न करता हुआ प्रकाशमान रहता है । इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा को ही विद्वान् लोग 'भोक्ता' कहते हैं (काठ० १।३।४) और समस्त प्राणियो मे छिपा हुआ, सर्वव्यापी, समस्त भूतो का अन्तर्यामी, कर्मों का अध्यक्ष, समस्त प्राणियों का आश्रयस्थान एकदेव [अर्थात् ईश्वर] केवल [सुखदुःखादि से

मव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्' (ईशा० ८) इति च । एतौ मन्त्रावनाधेयातिशयतां नित्यशुद्धतां च ब्रह्मणो दर्शयतः । ब्रह्मभावश्च मोक्षः । तस्मान्न संस्कार्योऽपि मोक्षः । अतोऽन्यन्मोक्षं प्रति क्रियानुप्रवेशद्वारं न शक्यं केनचिद्दर्शयितुम् । तस्माज्ज्ञानमेकं मुक्त्वा क्रियाया गन्धमात्रस्यानुप्रवेश इह नोपपद्यते ।

रहित नित्य मुक्त निर्गुण और समस्त लोक व्यापार का साक्षीभूत है (श्वेता ६।११)। वह शुद्ध निराकार, व्रणादि से रहित, नस नाड़ियों के सम्बन्ध से विहीन, शुद्ध, पापशून्य वह [परमात्मा] सर्वत्र व्यापक हो रहा है [ईशा० ८]। ये दोनो मन्त्र ईश्वर की अनाधेयातिशयता [अर्थात् जिसमे गुणाधानरूप संस्कार नहीं हो सकता है ऐसी प्रकृति] एव नित्यशुद्धता को सूचित करते हैं। और ब्रह्मभाव की प्राप्ति भी मोक्ष है इसलिये मोक्ष संस्कारी कर्म भी नहीं है। और इनके सिवाय [अर्थात् चतुर्विध कर्म के सिवाय] मोक्ष मे क्रिया के सम्बन्ध को दिखलाने वाला अन्य कोई मार्ग किसी विद्वान के द्वारा निकाला जाना सम्भव नहीं है इसलिये ज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी क्रिया के लेशमात्र का भी सम्पर्क यहा नहीं हो सकता है [इसलिये वृत्तिकार जो ब्रह्मज्ञान के बाद उपासनादि क्रियाओ का विधान मानते हैं और ब्रह्म को उन उपासनादि क्रियाओ का कर्म रूप में अंग मान कर उपनिषदों की व्याख्या करते हैं वह सब कुछ अनुचित है यह भाष्यकार का अभिप्राय है ।]

ऊपर के प्रकरण मे पूर्वपक्षी वृत्तिकार की ओर से यह प्रश्न उठाया गया था कि स्नान आचमन आदि देहाश्रित क्रियाओं के द्वारा देही आत्मा का संस्कार देखा जाता है इसी प्रकार उपासनादि क्रियाओ के द्वारा आत्मा का संस्कार होकर उसका अविद्यावश अभिभूत हुआ मोक्ष धर्म दर्पण के भास्वरत्व धर्म के समान फिर से प्रकाशित हो उठता है इसलिये उपासनादि क्रियाओं का मानना अत्यन्त उपयोगी है। भाष्यकार ने इस प्रश्न का उत्तर देने का यत्न किया है। उसमे उन्होंने 'देहादिसंहतस्यैवाविद्यागृहीतस्यात्मनः संस्क्रियमाणत्वात्' अर्थात् देहादि संहत अविद्यावश आत्मरूप गृहीत किसी का संस्कार होता है पर वह कौन है ? इसका तो कोई स्पष्टीकरण नहीं हुआ ? वह जीवात्मा ही है यह बात 'तयोरन्य पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इत्यादि उद्धरण द्वारा सिद्ध होती है। और भाष्यकार भी यही मानते हुये दिखलाई देते हैं। प्रश्नकर्ता वृत्तिकार भी

ननु ज्ञानं नाम मानसी क्रिया ।

न । वैलक्षण्यात् । क्रिया हि नाम सा यत्र वस्तुस्वरूप-निरपेक्षैव चोद्यते, पुरुषचित्तव्यापाराधीना च । यथा यस्यै देव-

---

जीवात्मा मे ही संस्कार सिद्ध करना चाहते है तब भाष्यकार के इस उत्तर मे वृत्तिकार की शका का निवारण कहा हो पा रहा है उससे न शका का निवारण हो रहा है और न विषय का स्पष्टीकरण । यह उत्तर केवल शब्दजाल मात्र प्रतीत होता है उचित और सन्तोषजनक रूप से जिज्ञासा की निवृत्ति उससे नहीं हो रही है ।

ज्ञान और क्रिया का भेद—

प्रश्न—अच्छा, ज्ञान भी तो मानसी क्रिया है ? अर्थात् जब ब्रह्म को ज्ञान का विषय बतलाते है तो ज्ञान के भी मानसी क्रियारूप होने से क्रिया का सम्बन्ध तो उसके साथ स्वीकार करना ही पड़ता है इसी प्रकार उपासना क्रिया का सम्बन्ध भी मानने मे कोई हानि प्रतीत नहीं होती ।

यह ठीक नहीं है । क्योंकि ज्ञान और क्रिया मे भेद पाया जाता है वह भेद निम्न प्रकार है कि उपासनादि क्रिया वह होती है जो वस्तु के स्वरूप की अपेक्षा किये बिना विधान की गई है जैसे मन की या आदित्य की ब्रह्म रूप मे उपासना करे यहां उपासना क्रिया है । मन मे ब्रह्म रूप की उपासना करने का विधान किया गया है । पर उस विधान को करते समय यह बात ध्यान मे नहीं रक्खी गई है कि मन ब्रह्म है भी कि नहीं । इसलिये यह विधान'वस्तुस्वरूपनिरपेक्ष' है । इसी को यहां भाष्यकार ने 'क्रिया हि नाम सा या वस्तुस्वरूपनिरपेक्षैव चोद्यते' इन शब्दो मे लिखा है । ज्ञान मे यह बात नहीं है । ज्ञान वस्तुस्वरूपसापेक्ष होता है । यह ज्ञान और क्रिया का पहला अन्तर है और दूसरा अन्तर यह है कि उपासनादि क्रिया पुरुषव्यापारतन्त्र होती है अर्थात् पुरुष चाहे तो मन मे ब्रह्मबुद्धि करे, चाहे न करे, चाहे मन को कुछ और समझ ले अर्थात् उपासनादि-रूप मानसी क्रिया 'कतुमकर्तुमन्यथाकर्तु' समर्थ होती है । पर ज्ञान मे वह बात नहीं है । घट का ज्ञान घट रूप मे होगा तभी वह यथार्थ ज्ञान कहलायेगा यही घटज्ञान की वस्तुस्वरूपसापेक्षता है और घट के साथ इन्द्रिय अर्थ का सन्निकर्ष होने पर घटज्ञान अवश्य होगा वह कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तु शक्य नहीं है । यह ज्ञान और क्रिया का दूसरा भेद है । इसी को भाष्यकार ने इन प्रश्न उत्तर रूप अगली पक्तियों मे निम्न प्रकार स्पष्ट किया है—

उत्तर—यह बात ठीक नहीं, क्योंकि [ज्ञान तथा क्रिया में भेद पाया जाता है । उपासनादि रूप] क्रिया वह होती है जो वस्तु के स्वरूप की चिन्ता

तायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेद्वषट्करिष्यन्' इति । 'संध्यां मनसा ध्यायेत' (ऐ० ब्रा० ३।८।१) इति चैवमादिषु । ध्यानं चिन्तनं यद्यपि मानसं तथापि पुरुषेण कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं, पुरुषतन्त्रत्वात् । ज्ञानं तु प्रमाणजन्यम् । प्रमाणं च यथाभूतवस्तुविषयमतो ज्ञानं कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुमशक्यं केवलं वस्तुतन्त्रमेव तत् । न चोदनातन्त्रम् । नापि पुरुषतन्त्रम् । तस्मान्मानसत्वेऽपि ज्ञानस्य महद्वैलक्षण्यम् ।

यथा च 'पुरुषो वाव गौतमाग्निः' 'योषा वाव गौतमाग्निः' (छान्दो० ५।७, ८।१) इत्यत्र योषित्पुरुषयोरग्निबुद्धिर्मानसी भवति । केवलचोदनाजन्यत्वात्क्रियैव सा पुरुषतन्त्रा च । या तु प्रसिद्धेऽग्नावग्निबुद्धिर्न सा चोदनातन्त्रा । नापि पुरुषतन्त्रा ।

किये बिना ही विधान कर दी जाती है और पुरुषव्यापारतन्त्र होती है। पुरुष की इच्छा के, व्यापार के अधीन होती है। जैसे 'जिस देवता की हवि प्रदान की जाती है वषट्कार करते समय [अर्थात् आहुति देते समय] उसका मन मे ध्यान करे' और 'सन्ध्या का मन मे ध्यान करे' इत्यादि [उपासना-विधियो] मे ध्यान अर्थात् चिन्तन यद्यपि मानस व्यापार रूप है किन्तु पुरुष उसको करने न करने या अन्यथा करने मे समर्थ है क्योंकि वह पुरुष के व्यापाराधीन है किन्तु ज्ञान प्रमाणजन्य है और प्रमाण [यथाभूत अर्थात्] वास्तविक अर्थ को ही ग्रहण करता है इसलिये ज्ञान कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं शक्य नहीं है। वह केवल वस्तुतन्त्र है [पुरुषव्यापारतन्त्र नहीं है और न वस्तु-स्वरूपनिरपेक्ष है] न चोदनातन्त्र है [अर्थात् उपासनादि के समान किसी विधान की अपेक्षा नहीं रखता है] और न पुरुष-व्यापार के अधीन है। इसलिये ज्ञान के [उपासनादि क्रियाओं के समान ही] मानस व्यापार रूप होने पर भी [उपासनादि क्रियाओ से उसमे] अत्यन्त भेद पाया जाता है।

और जैसे [छान्दोग्य उपनिषद् मे वर्णित पचाग्निविद्या के प्रसंग मे आये हुये] हे गौतम ! पुरुष अग्निरूप है और हे गौतम स्त्री अग्निरूप है। इत्यादि उदाहरणो मे स्त्री तथा पुरुष मे अग्निबुद्धि मानसव्यापाररूप होती है। और केवल विधान के आधार पर की गई तथा पुरुषव्यापाराधीन होती है इसलिये वह क्रिया भी कहलाती है। और प्रसिद्ध अग्नि मे जो अग्निबुद्धि

किं तर्हि ?

प्रत्यक्षविषयवस्तुतन्त्रैवेति ज्ञानमेवैतन्न क्रिया । एवं सर्वप्रमाणविषयवस्तुषु वेदितव्यम् । तत्रैवं सति यथाभूत-ब्रह्मात्मभूतविषयमपि ज्ञानं 'न चोदनातन्त्रम् । तद्विषये लिङा-दयः श्रूयमाणा अप्यनियोज्यविषयत्वात्कुण्ठीभवन्त्युपलादिषु प्रयुक्तक्षुरतैक्ष्ण्यादिवत् , अहेयानुपादेयवस्तुविषयत्वात् ।

किमर्थानि तर्हि 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इत्यादीनि विधिच्छायानि वचनानि । स्वाभाविकप्रवृत्तिविषय-विमुखीकरणार्थानीति ब्रूमः । यो हि बहिर्मुखः प्रवर्तते पुरुषः 'इष्टं

होती है वह तो न किसी विधान के कारण [चोदनातन्त्रा] होती है और न पुरुषव्यापाराधीन ।

प्रश्न—तो फिर वह [प्रसिद्ध अग्नि मे अग्निबुद्धि] कैसी होती है ?

उत्तर—प्रत्यक्ष वस्तु के अधीन होती है [अर्थात् जैसी वस्तु होती है उस अग्नि को उसी रूप मे ग्रहण करने से वह ज्ञान यथार्थ ज्ञान कहलाता है] इसलिये वह ज्ञान ही होती है क्रिया नहीं । इसी प्रकार समस्त प्रमाणभूत वस्तुओं के विषय मे समझना चाहिये [कि उनका ज्ञान वस्तुतन्त्र ही होता है पुरुष-व्यापारतन्त्र नहीं और न चोदनातन्त्र] ऐसा होने पर यथाभूत ब्रह्म तथा आत्मा के विषय का ज्ञान भी वस्तुतन्त्र ही है न चोदनातन्त्र है [अर्थात् किसी विधान के आधार पर नहीं होता है] और न पुरुषव्यापाराधीन है । इसलिये उसके विषय मे श्रूयमाण [आत्मा वा अरे द्रष्टव्य इत्यादि रूप] लिङादि विधि प्रधान प्रत्यय सुने जाने पर भी विधान का विषय न होने से पत्थर पर मारे गए छुरे की धार के समान कुण्ठित हो जाते हैं [वे किसी बात का विधान नहीं कर सकते] क्योकि वे अहेय और अनुपादेय [अर्थात् विधि और निषेध दोनो के अविषयभूत ब्रह्म रूप] तत्व से सम्बन्ध रखते हैं ।

प्रश्न—तो फिर 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि विधिसदृश वाक्यों का विधान क्यों किया गया है ?

उत्तर—[वह शंका करे तो उसके उत्तर मे] हमारा यह कहना है कि वे स्वाभाविक प्रवृत्ति [अर्थात् लौकिक व्यापार] के विषयो से विमुख करने के लिये [किये गये] है । जो पुरुष मुझे इष्ट की प्राप्ति हो और अनिष्ट की प्राप्ति न हो इस भावना से बाह्य व्यापारो में प्रवृत्त होता है किन्तु आत्यन्तिक-

मे भूयादनिष्टं मा भूदिति' न च तत्रात्यन्तिकं पुरुषार्थं लभते, तमात्यन्तिकपुरुषार्थवाञ्छिनं स्वाभाविककार्यकरणसंघातप्रवृत्तिगोचराद्विमुखीकृत्य प्रत्यगात्मस्रोतस्तया प्रवर्तयन्ति 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादीनि।

तस्यात्मान्वेषणाय प्रवृत्तस्याहेयमनुपादेयं चात्मतत्त्वमुपदिश्यते। 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृह० २।४।६) 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात् विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (बृह० ४।५।१५) 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृह० २।५।१९) इत्यादिभिः।

यदप्यकर्तव्यप्रधानमात्मज्ञानं हानायोपादानाय वा न भवतीति, तत्तथैवेत्यभ्युपगम्यते।

पुरुषार्थ [अर्थात् इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की हानि] को प्राप्त नहीं कर पाता है। उस अन्तिम पुरुषार्थ [मोक्ष] की इच्छा रखने वाले पुरुष को स्वाभाविक कार्यकारणरूप प्रवृत्ति के विषयों [अर्थात् लौकिक व्यापारों] से विमुख करके 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य.' इत्यादि वचन अपने स्वरूप का साक्षात्कार करने मे [प्रत्यगात्मस्रोतस्तया] प्रवृत्त करते हैं।

आत्म तत्त्व के अनुसन्धान मे प्रवृत्त उस पुरुष को [आत्मस्वरूप का ज्ञान कराने के लिये ही] ['इद सर्वं यदयमात्मा' (बृह० २।४।६)] 'यह सब कुछ आत्मस्वरूप ही है'। 'जहा सब कुछ आत्मस्वरूप ही हो जाता है वहा किस [प्रमाण] से किस [प्रमेय] को देखे। ज्ञाता को किस साधन से जाने' (बृह ४।५ १५)। 'यह आत्मा ही ब्रह्म है' (बृह २।५।१९) इत्यादि वाक्यों के द्वारा अहेय और अनुपादेय [अर्थात् विधि और निषेध दोनों के अविषयभूत] आत्मतत्त्व का उपदेश दिया गया है।

पूर्वपक्ष—[इस पर वृत्तिकार की ओर से यह पूर्वपक्ष उठता है कि] यदि आत्मज्ञान कर्तव्य प्रधान [अर्थात् क्रिया से सम्बद्ध] नहीं है तो वह [किसी फल की] हानि अथवा उपादान मे समर्थ नहीं हो सकेगा ? इसलिये आत्मज्ञान के साथ उपासनादि क्रिया का सम्बन्ध मानना ही चाहिये।

अलंकारो ह्ययमस्माकं यद्ब्रह्मात्मावगतौ सत्यां सर्वकर्त्तव्यताहानिः, कृतकृत्यता चेति। तथा च श्रुतिः—'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥' (बृह० ४।४।१२) इति। 'एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत।' (भ० गी० १५।२०) इति च स्मृतिः। तस्मान्न प्रतिपत्तिविधिविषयतया ब्रह्मणः समर्पणम्।

उत्तर—इस बात को हम ज्यो का त्यो स्वीकार करते है और ब्रह्म तथा आत्मा के एकत्व ज्ञान के बाद सारे कर्त्तव्यो की समाप्ति हो जाती है और मोक्ष रूप फल की प्राप्ति हो जाती है यह बात हमारे लिये अलकारस्वरूप ही है [दूषणरूप नहीं] जैसा कि निम्न उपनिषद्वाक्य मे भी कहा गया है—'मैं यह हूँ, इस रूप मे यदि अपने स्वरूप का साक्षात्कार हो जाय तो फिर [कृतकृत्यता हो जाने के कारण] किस फल की कामना से, किस इच्छा से [उपासनादि क्रियाओं के अनुष्ठान द्वारा] अपने शरीर को सतावेगा' (बृह ४।४।१२) भरत पुत्र! इस आत्मतत्त्व को जानकर पुरुष बुद्धिमान और कृतकृत्य हो जाता है [उसे उपासनादि किसी क्रिया की आवश्यकता नहीं रहती है] इसलिये [किसी भी अंश मे] उपासना विधि के अगरूप में ब्रह्म का प्रतिपादन [उपनिषद्वाक्यो द्वारा] नहीं किया गया है।

यहा तक भाष्यकार ने 'तत्तु समन्वयात्' सूत्र की दो प्रकार की व्याख्या उपस्थित की थी। पहली व्याख्या मे उन्होने मीमासक को पूर्वपक्षी बनाकर उसके मत का खण्डन किया था। ये मीमासक आचार्य कुमारिल भट्ट थे जिनके मत का इस अधिकरण के प्रथम वर्णक मे खण्डन किया गया था। उसके बाद 'अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्ते' से अपरे अर्थात् वेदान्त के अनुयायी पूर्ववर्ती वृत्तिकार बोधायन या उनके वृत्तिसक्षेपकार उपवर्ष के भक्तिवादी मार्ग का खण्डन प्रारम्भ किया था। वह खण्डन यहां तक समाप्त हो गया। इससे इसे 'समन्वयाधिकरण का द्वितीय वर्णक' कहा जाता है। वैयासक न्यायमालाकार श्री भारती तीर्थ मुनि जी ने इस द्वितीय वर्णक का सार अपने शब्दो मे निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है—

प्रतिपत्तिं विधित्सन्ति ब्रह्मण्यवसिता उत।
शास्त्रत्वात्ते विधातारो मननादेश्च कीर्त्तनात्॥
नाकर्तृतन्त्रेऽस्ति विधिः शास्त्रत्व शंसनादपि।
मननादिः पुरा बोधाद्ब्रह्मण्यवसितास्ततः॥

अर्थात् उपनिषद्वाक्य इस अधिकरण के विषय वाक्य है। उनके विषय में यह संशय उत्पन्न होता है कि क्या वे उपासना विधि का प्रतिपादन करते है अथवा ब्रह्म के बोधन मे ही समाप्त हो जाते है। इस सशय के होने पर पूर्वपक्ष यह उपस्थित होता है कि शासनात् शास्त्र इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रवृत्ति या निवृत्ति मय होने पर ही उनमे शास्त्रत्व बनता है इसलिये और श्रवण के बाद मननादि का विधान होने से भी उपनिषद्वाक्य उपासनादि विधि का प्रतिपादन करने वाले ही होते हैं। यह वेदान्त के वृत्तिकार बोधायन और उनकी वृत्ति के सक्षेपकार उपवर्ष के मत का साराश है। यह पूर्वपक्ष हुआ। इसका उत्तर यह है कि शास्त्र शब्द की व्युत्पत्ति केवल 'शासनात् शास्त्रं' ही नहीं है 'शंसनादपि शास्त्रं' अर्थात् प्रवृत्ति-निवृत्ति से रहित केवल ब्रह्म का प्रतिपादन करने पर भी उनके शास्त्रत्व की कोई हानि नहीं होती और मननादि का जो विधान किया गया है वह ब्रह्मज्ञान के पूर्व तक के लिये ही है। ब्रह्म-साक्षात्कार के बाद उसकी कोई आवश्यकता नहीं रहती है इसलिये उपनिषद्वाक्यो के तात्पर्यार्थ की परिसमाप्ति ब्रह्म के बोधन मे ही हो जाती है। वे उपासनादि विधियो का प्रतिपादन नहीं करते हैं। यह भाष्यकार का सिद्धान्त पक्ष है।

मीमांसक प्रभाकर के मतानुसार पूर्वपक्ष का पुनरुत्थापन—

यहां तक भाष्यकार ने मीमांसक तथा वृत्तिकार के मतों की बहुत विस्तारपूर्वक आलोचना करके अपने सिद्धान्त पक्ष की स्थापना की है किन्तु 'स्थूणानिखनन न्याय' से वे अपने मत को और भी अधिक परिपुष्ट करने के लिये एक बार फिर मीमासक मत को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित करके उसका खण्डन प्रारम्भ करते हैं। विषय मे नूतनता लाने के लिये पहले मीमासक मत को कुमारिल भट्ट का मत और अब आगे उपस्थित किये जाने वाले मत को प्रभाकर का मत समझ लेना चाहिये। कुमारिल भट्ट तथा प्रभाकर के मतो मे अन्तर इतना है कि कुमारिल भट्ट तो सिद्ध पदार्थों मे पदों की शक्ति मानते है इसलिये वे अभिहितान्वयवादी है और प्रभाकर सिद्ध पदार्थों मे पदों की शक्ति नहीं मानते है केवल क्रियान्वित पदार्थों मे ही शक्ति मानते हैं इसलिये उनके मत मे पदों के द्वारा 'अन्वित अर्थ' ही उपस्थित होता है इसलिए वे 'अन्विताभिधानवादी' है। प्रभाकर के इस अन्विताभिधानवाद मे जब कहीं भी क्रिया के अन्वय के बिना पद से केवल पदार्थ की प्रतीति नहीं बनती है तब उपनिषदो मे ही प्रवृत्ति निवृत्ति से रहित केवल ब्रह्म की प्रतीति कैसे बन जावेगी अर्थात् उपनिषद्वाक्यो से केवल ब्रह्मप्रतीति होती ही नहीं। प्रवृत्ति निवृत्ति या उसके अग रूप से ही सिद्ध पदार्थ की प्रतीति हो सकती

यदपि केचिदाहुः—'प्रवृत्तिनिवृत्तिविधितच्छेषव्यतिरेकेण केवलवस्तुवादी वेदभागो नास्ति' इति तन्न, औपनिषदस्य पुरुषस्यानन्यशेषत्वात् । योऽसावुपनिषत्स्वेवाधिगतः पुरुषोऽसंसारी ब्रह्म उत्पाद्यादिचतुर्विधद्रव्यविलक्षणः स्वप्रकरणस्थोऽनन्यशेषः, नासौ नास्ति नाधिगम्यत इति वा शक्यं वदितुम्, 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृह० ३।९।२६) इत्यात्मशब्दात्, आत्मनश्च प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात्, य एव निराकर्ता तस्यैवात्मत्वप्रसङ्गात् ।

है। इसी बात को लेकर भाष्यकार यहाँ पूर्वपक्ष उठाकर उसका खण्डन प्रारम्भ करते है—

पूर्वपक्ष—और जो किन्हीं ने [अर्थात् मीमासक मतानुयायी प्रभाकर ने] यह कहा है कि प्रवृत्ति-निवृत्ति और उनके अंगो को छोड़ करके केवल वस्तु का प्रतिपादन करने वाला कोई वेद भाग हो ही नहीं सकता है [अतः केवल ब्रह्म का प्रतिपादन उपनिषदो में नहीं किया गया है। अपितु किसी क्रिया के अग रूप मे ही ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है।]

उत्तर पक्ष—यह कहना ठीक नहीं क्योकि उपनिषद् में प्रतिपादित ब्रह्म किसी क्रिया का अग नहीं है [स्वतन्त्र रूप से ही उसका प्रतिपादन किया गया है। उपनिषदो मे जिस असंसारी, और उत्पाद्यादि [अर्थात् उत्पाद्य च विकार्यञ्च प्राप्यं सस्कार्यमेव च] इन चारों प्रकारो के द्रव्यो से भिन्न अपने [अर्थात् उपनिषद् के] प्रकरण मे पठित होने से क्रिया की अंगता से विहीन जिस ब्रह्म का उपदेश केवल उपनिषदों मे ही पाया जाता है वह नहीं है या नहीं ज्ञात होता है ऐसा कहना सम्भव नहीं है। क्योकि "वह [ब्रह्म] यह [ससारी पदार्थ] नहीं है [उससे भिन्न] 'आत्मा है' (बृह० ३।९।२६) इसमे [ब्रह्म के लिये] 'आत्म' शब्द का प्रयोग होने से और आत्मा का खण्डन करना असम्भव होने से [ब्रह्म का निषेध] नहीं किया जा सकता है क्योकि जो कोई [आत्मा का] निषेध करेगा वही [परमार्थ में] आत्मा कहलायगा [इसलिये प्रवृत्ति निवृत्ति से रहित केवल ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं किया गया है या उसका ज्ञान नहीं होता है ऐसा कहने का साहस मीमासक को नहीं करना चाहिये।

नन्वात्माहंप्रत्ययविषयत्वादुपनिषत्स्वेव विज्ञायत इत्यनुपपन्नम् । न तत्साक्षित्वेन प्रत्युक्तत्वात् । न ह्यहंप्रत्ययविषयकर्तृव्यतिरेकेण तत्साक्षी सर्वभूतस्थः सम एकः कूटस्थनित्यः पुरुषो विधिकाण्डे तर्कसमये वा केनचिदधिगतः सर्वस्यात्मा, अतः स न केनचित्प्रत्याख्यातुं शक्यो विधिशेषत्वं वा नेतुम् । आत्मत्वादेव च सर्वेषां न हेयो नाप्युपादेयः । सर्वं हि विनश्यद्विकारजातं पुरुषान्तं विनश्यति । पुरुषो हि विनाशहेत्वभावादविनाशी, विक्रियाहेत्वभावाच्च कूटस्थनित्यः, अत एव नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः । तस्मात् 'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः' (कठ० १।३।११) 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृह०

प्रश्न—[आपने आत्मा को 'औपनिषद पुरुष' कहा है जिसका अभिप्राय यह है कि उसका प्रतिपादन केवल उपनिषदों मे ही किया गया है । उपनिषदों के अतिरिक्त उसके ज्ञान का कोई और साधन नहीं है किन्तु आपका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि] अहं प्रतीति का विषय होने से आत्मा केवल उपनिषदों से ही ज्ञात होता है यह [आपका अर्थात् भाष्यकार का मत] ठीक नहीं है ।

उत्तर—यह [पूर्वपक्ष] ठीक नहीं है क्योंकि उस [अहं प्रत्यय के विषयभूत आत्मा] के साक्षीभूत [ब्रह्म के औपनिषद पुरुषरूप विवक्षित होने से पूर्वपक्ष का] खण्डन हो जाता है । अहं प्रत्यय के विषय कर्ता [अर्थात् जीवात्मा] से भिन्न उसके साक्षीभूत, सब प्राणियों मे रहनेवाले, सदा एकरस, अद्वितीय, कूटस्थ, नित्य ब्रह्म का ज्ञान कर्मकाण्ड के प्रकरण मे अथवा तर्कशास्त्र मे किसी को नहीं होता है और वह सबका आत्मभूत है इसलिये उसका न तो निषेध किया जा सकता है और न उसे कर्मकाड का अंग कहा जा सकता है । और सबका आत्मभूत होने से ही वह न किसी के लिये हेय [परित्याज्य] और न किसी के लिये उपादेय [ग्रहण करने योग्य] ही है [क्योंकि आत्मभूत होने से सबको प्राप्त ही है] । और सारे [सृष्टि के] विकारो का विलय पुरुष मे ही होता है और पुरुष के विनाश का कोई कारण सम्भव न होने से वह अविनाशी है और [पुरुष मे] विकार का कोई कारण न होने से वह विकारविहीन, कूटस्थ नित्य, शुद्ध बुद्ध-मुक्त स्वभाव है । इसीलिये पुरुष के बाद शेष रहने वाला कोई तत्व नहीं है वही पुरुष [सत्पदार्थों की] चरम सीमा और अन्तिम गति है (काठ १।३।११) [इसी

३।६।२६) इति चौपनिषदत्वविशेषणं पुरुषस्योपनिषत्सु प्राधान्येन प्रकाश्यमानत्व उपपद्यते। अतो भूतवस्तुपरो वेदभागो नास्तीति वचनं साहसमात्रम्। यदपि शास्त्रतात्पर्यविदामनुक्रमणम्—'दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्' इत्येवमादि, तद्धर्मजिज्ञासाविषयत्वाद्विधिप्रतिषेधशास्त्राभिप्रायं द्रष्टव्यम्। अपि च 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।' इत्येतदेकान्तेनाभ्युपगच्छतां भूतोपदेशानर्थक्यप्रसङ्गः। प्रवृत्तिनिवृत्ति-

---

कूटस्थ नित्य ब्रह्म के लिये हमने 'औपनिषद पुरुष' शब्द का प्रयोग किया है, जीवात्मा के लिये नहीं। यह भाष्यकार के 'तत्साक्षित्वेन प्रत्युक्तत्वात्' आदि शब्दो का अभिप्राय है] इसीलिये 'मै आपसे उस 'औपनिषद पुरुष' [अर्थात् ब्रह्म या ईश्वर] को पूछता हूँ इत्यादि वाक्यो मे उस ब्रह्म के मुख्यरूप से उपनिषदो द्वारा ज्ञात होने से ही उसके लिये 'औपनिषद पुरुष' यह विशेषण संगत होता है। इसलिये 'भूत वस्तु [अर्थात् प्रवृत्ति निवृत्ति और उसके अग से भिन्न केवल] सिद्ध पदार्थ का प्रतिपादन करने वाला वेद भाग नहीं है ऐसा कहना [प्रभाकर मतानुयायी मीमांसक का अनुचित] साहसमात्र है।

आम्नायिकी क्रियापरता का सम्बन्ध केवल कर्मकाण्ड तक सीमित करना आवश्यक है—

और जो शास्त्र तात्पर्य को जानने वाले [अर्थात् मीमासाचार्यो] का यह कथन है कि उस वेद का प्रयोजन कर्मकाण्ड का बोधन करना ही देखा गया है इत्यादि वह केवल धर्मजिज्ञासा के प्रकरण से सम्बद्ध होने के कारण केवल विधि तथा प्रतिषेध करने वाले शास्त्रो से ही सम्बन्ध रखता है [उपनिषद्वाक्यो की विवेचना से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है]

क्रियापरता के क्षेत्र को सीमित न करने से प्रथम हानि—

यदि 'सारा वेद क्रिया का प्रतिपादक ही है इसलिये जो वेदभाग क्रिया का प्रतिपादन नहीं करते वे अनर्थक है' इस बात को ज्यो का त्यो मानने पर सिद्धवस्तुप्रतिपादक सारा वेदभाग अनर्थक हो जावेगा [चाहे वह किसी क्रिया के अगरूप मे ही सिद्ध वस्तु का प्रतिपादन भले ही क्यो न करे किन्तु जब सिद्ध वस्तु के प्रतिपादन को अनर्थक ही माना गया तो फिर मीमांसा के प्रकरण मे आये हुये सिद्धार्थबोधक सारे वाक्य अनर्थक ही हो जायेंगे। प्रवृत्ति निवृत्ति और उसके अंग से भिन्न भूत वस्तु का भव्यार्थत्वेन अर्थात् क्रिया के लिये यदि वेद

विधितच्छेषव्यतिरेकेण भूतं चेद्वस्तूपदिशति भव्यार्थत्वेन, कूटस्थनित्यं भूतं नोपदिशतीति को हेतुः। नहि भूतमुपदिश्यमानं क्रिया भवति। अक्रियात्वेऽपि भूतस्य क्रियासाधनत्वात्क्रियार्थ एव भूतोपदेश इति चेत्। नैष दोषः। क्रियार्थत्वेऽपि क्रियानिर्वर्तनशक्तिमद्वस्तूपदिष्टमेव। क्रियार्थत्वं तु प्रयोजनं तस्य। न चैतावता वस्त्वनुपदिष्टं भवति। यदि नामोपदिष्टं किं तव तेन स्यादिति। उच्यते—अनवगतात्मवस्तूपदेशश्च तथैव भवितुमर्हति। तदवगत्या मिथ्याज्ञानस्य संसारहेतोर्निवृत्तिः प्रयोजनं क्रियत इत्यविशिष्टमर्थवत्त्वं क्रियासाधनवस्तूपदेशेन।

उपदेश करता है तो कूटस्थ नित्य ब्रह्म का उपदेश क्यो नहीं करेगा ? इसका हेतु बतलाना चाहिये [अर्थात् जैसे मीमांसा मे भव्यार्थत्वेन किसी क्रिया के लिये भूत वस्तु का अर्थात् सिद्ध पदार्थ का उपदेश हो सकता है उसी प्रकार उपनिषदों मे कूटस्थनित्य ब्रह्म का प्रतिपादन भी हो सकता है।] क्योकि [कर्मकाण्ड मे जब] सिद्ध पदार्थ का उपदेश किया जाता है तो वह [सिद्ध पदार्थ] क्रिया तो नहीं बन जाता। क्रिया के लिये होता है। यह उसका प्रयोजन हुआ [सिद्ध पदार्थ तो सिद्ध पदार्थ ही रहा और वेदवाक्यों से उसका प्रतिपादन हुआ] ऐसे क्रियारूप न होने पर भी भूत वस्तु के क्रिया का साधन होने से क्रिया के लिये ही उस [भूत वस्तु] का उपदेश किया गया है यदि ऐसा कहे तो भी यह संगत नहीं है क्योंकि [उस दशा मे भी] क्रिया को सम्पादन करने मे समर्थ वस्तु का उपदेश तो किया ही गया, [वह क्रिया के लिये है यह] क्रियार्थता उसका प्रयोजन है किन्तु इससे भूत वस्तु का उपदेश नहीं किया गया है यह बात तो सिद्ध नहीं होती।

प्रश्न—यदि [सिद्ध वस्तु का] उपदेश किया ही गया है तो उससे आपको क्या लाभ है ?

उत्तर—बतलाते है कि इसी प्रकार [अन्य प्रमाणो से अज्ञात आत्म वस्तु [अर्थात् सिद्ध पदार्थ ब्रह्म] का उपदेश भी [उपनिषदो मे] किया जा सकता है और उसके ज्ञान से ससार के निदानभूत मिथ्याज्ञान की निवृत्ति रूप प्रयोजन की सिद्धि होती है। इस प्रकार क्रिया के साधनभूत [कर्मकाण्ड मे उपदिष्ट] वस्तु के उपदेश के साथ [उपनिषद् मे प्रतिपादित ब्रह्म तत्त्व की] समानता ही है [इसलिये उपनिषदों मे सिद्ध ब्रह्म का प्रतिपादन मानने मे कोई हानि नहीं है।]

अपि च 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इति चैवमाद्या निवृत्तिरुपदिश्यते । न च सा क्रिया । नापि क्रियासाधनम् । अक्रियार्थानामुपदेशोऽनर्थकश्चेत् 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादिनिवृत्त्युपदेशानामानर्थक्यं प्राप्तम् । तच्चानिष्टम् ।

क्रियापरता के क्षेत्र को सीमित न करने की द्वितीय हानि—

ऊपर भाष्यकार यह कह चुके हैं कि सारे वेदभाग को क्रियापरक ही मानने के विषय मे मीमासक आचार्यों का जो दृष्टिकोण है उसे केवल कर्मकाण्ड क्षेत्र तक ही सीमित करना आवश्यक है । उसे यदि सीमित न किया जाय और असीमित रूप मे स्वीकार किया जाय तो 'आनर्थक्यमतदर्थानाम्' अर्थात् जो वेदभाग तदर्थ अर्थात् क्रियापरक नहीं है वह अनर्थक है इस सिद्धान्त को ज्यों का त्यो माना जाय तो कर्मकाण्ड के प्रकरण मे भी 'यूप' 'आहवनीय' आदि जिन सिद्ध पदार्थों का वर्णन पाया जाता है वह सब भी अनर्थक हो जावेगा । यह क्रियापरता के असीमित कार्यक्षेत्र को मानने मे प्रथम हानि है । उसकी दूसरी हानि निषेध वाक्यों के स्थल पर आती है । 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादि निषेधवाक्य मनुष्य को ब्राह्मणहनन आदि कार्यों से निवृत्त रहने का उपदेश करते है । किसी काम को करना तो एक क्रिया है, किन्तु किसी काम को न करना स्वय मे कोई क्रिया नहीं है इसलिये निषेधवाक्यो द्वारा द्योतित निवृत्ति क्रियारूप न होकर केवल औदासीन्यरूप है । यदि हम यह बात मान लेगे कि जो वेदभाग क्रियापरक नहीं है वह अनर्थक ही है तो निवृत्ति का प्रतिपादन करने वाले सारे ही निषेधवाक्य अनर्थक हो जावेगे । असीमित रूप मे क्रियापरता के सिद्धान्त को ज्यों का त्यो स्वीकार करने मे यह दूसरी हानि है जिसे भाष्यकार ने अगली पंक्तियों मे निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है ।

और 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिये इत्यादि [निषेधवाक्यो द्वारा ब्राह्मणवधरूप अनिष्ट हेतु से] निवृत्ति का उपदेश दिया गया है किन्तु वह क्रियारूप नहीं है और न क्रिया का साधन है । यदि अक्रियार्थक [वेदभाग] का आनर्थक्य माना जाय तो सारे निषेधवाक्यो की अनर्थकता सिद्ध हो जावेगी किन्तु वह इष्ट नहीं है [इसलिये क्रियापरता के सिद्धान्त को किसी अश मे सीमित करना ही पड़ेगा और वह परिसीमन क्रिया से सर्वथा असम्बद्ध उपाख्यान भाग आदि तक ही माना जाय तो उचित होगा ।]

नञ् के दो भेद—

निषेधवाक्यों का सम्बन्ध नञ् से है । यह न या नञ् दो प्रकार का होता है ।

एक प्रसज्यप्रतिषेधात्मक नञ् और दूसरा पर्युदासात्मक नञ्। जहा नञ् का सम्बन्ध सीधा क्रिया के साथ होता है वहा प्रसज्यप्रतिषेधात्मक नञ् का प्रयोग माना जाता है और ऐसे स्थल पर प्रतिषेध अंश की प्रधानता मानी जाती है। और जहां नञ् का सम्बन्ध क्रिया के साथ न होकर किसी अन्य के साथ होता है वहां पर्युदासात्मक नञ् का प्रयोग माना जाता है। पर्युदासात्मक नञ् मे निषेधाश की उतनी प्रधानता नहीं रहती है जैसी प्रसज्यप्रतिषेधात्मक नञ् मे होती है। इन दोनो प्रकार के नञर्थ के लक्षण निम्न प्रकार किये गये हैं—

'अप्राधान्यं विधेर्यत्र, प्रतिषेधे प्रधानता।
प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ, क्रियया सह यत्र नञ्॥
प्राधान्यं च विधेर्यत्र, प्रतिषेधेऽप्रधानता।
पर्युदासस्तु विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्॥'

जैसे 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादि उदाहरणो मे नञ् का सम्बन्ध सीधा क्रिया के साथ है और प्रतिषेध अर्थ मे प्रधानता विवक्षित है इसलिये यह 'प्रसज्यप्रतिषेधात्मक नञ्' का उदाहरण है। अब दूसरी ओर 'अब्राह्मणः अनुदरा कन्या' इत्यादि उदाहरणों मे नञ् का सम्बन्ध किसी क्रिया के साथ न होकर ब्राह्मण और उदर रूप उत्तरपदो के साथ है इसलिये ये दोनों पर्युदासात्मक नञ् के उदाहरण हैं और उनमे प्रतिषेध अर्थ की प्रधानता नहीं है।

सामान्य रूप से सर्वत्र नञ् का सम्बन्ध सीधा क्रिया के साथ ही होना चाहिये अर्थात् साधारणतः प्रसज्यप्रतिषेधात्मक नञ् का ही प्रयोग होना चाहिये किन्तु विशेष अवस्था मे नञ् अपने प्रसज्यप्रतिषेधात्मक रूप को छोड़कर पर्युदासात्मक रूप को धारण कर लेता है। ऐसी विशेष परिस्थिति तब मानी जाती है जब नञ् का सम्बन्ध क्रिया के साथ करने मे कोई विशेष बाधक उपस्थित हो जाय। ये बाधक भी दो प्रकार के होते हैं—एक 'उपक्रम विरोध' और दूसरा 'विकल्प प्रसक्ति'। जहां इन दोनों मे से कोई बाधक कारण उपस्थित हो जाता है वहां नञ् अपने प्रसज्यप्रतिषेधात्मक स्वरूप को छोड़ देता है और पर्युदासात्मक नञ् बन जाता है। उपक्रम विरोधवाले बाधक को उदाहरण द्वारा निम्न प्रकार से समझा जा सकता है। स्नातकों के व्रतग्रहण के समय 'अथ तस्य व्रतं' से धर्मशास्त्र में एक नवीन प्रकरण का प्रारम्भ होता है। उसी प्रकरण के अन्तर्गत 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन' अर्थात् उदय होते हुये आदित्य का दर्शन न करे यह निषेधवाक्य आता है। स्नातक के इस व्रतग्रहण के प्रकरण को 'प्रजापतिव्रत' कहते है। इसमे यदि नञ् का सम्बन्ध ईक्षण क्रिया के साथ माना जाय और उसे प्रसज्यप्रतिषेधात्मक माना जाय तो उससे ईक्षण क्रिया का निषेध या

न च स्वभावप्राप्तहन्त्यर्थानुरागेण नञः शक्यमप्राप्तक्रियार्थत्वं कल्पयितुं, हननक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यव्यतिरेकेण ।

निवृत्ति सूचित होगी । यह निवृत्ति कोई क्रियारूप नहीं है बल्कि औदासीन्यरूप होती है यह बात पहले कही जा चुकी है। इधर 'अथ तस्य व्रतं' यह जो इस प्रकरण का उपक्रम वाक्य है इसमे स्नातक के व्रत का विधान किया गया है। 'व्रत' का अर्थ होता है 'अनुष्ठेय कर्म' इसका अभिप्राय यह हुआ कि इस प्रकरण मे आगे चलकर 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्य' से जिस बात का विधान किया गया है वह भी स्नातक का कोई अनुष्ठेय कर्म है। अब यदि हम नञ् को प्रसज्यप्रतिषेधात्मक मानकर 'नेक्षेत' मे ईक्षण क्रिया के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ते है तो उससे सूचित होने वाली 'ईक्षण निवृत्ति' कोई क्रिया नही बनती इसलिये वह 'व्रत' या अनुष्ठेय कर्म के अन्तर्गत नहीं आ सकती है यह हुआ 'उपक्रमविरोध'। इस उपक्रमविरोध के भय से ऊपर दिये हुये 'प्रजापतिव्रत' वाले प्रकरण मे नञ् का सम्बन्ध क्रिया के साथ न मानकर ईक्षधात्वर्थ के साथ होता है और उसका अर्थ अनीक्षण होता है। अतः नञ् अपने प्रसज्यप्रतिषेधात्मक रूप को छोड़कर पर्युदासात्मक नञ् बन जाता है और उपक्रम वाक्य मे पठित 'व्रत' शब्द के अनुरोध से लक्षणा द्वारा 'उद्यदादित्यदर्शनविरुद्धम् सङ्कल्प कुर्यात्' यह उस वाक्य का अर्थ हो जाता है। ऐसी विशेष व्याख्या 'प्रजापति व्रत' आदि जैसे अपवादस्थलो मे ही की जाती है अन्य स्थलों मे नहीं। इसलिये 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादि उदाहरणो मे हननक्रियानिवृत्तिरूप औदासीन्य ही नञ् का अर्थ है उससे भिन्न किसी अन्य अर्थ की कल्पना नहीं की जा सकती। और यदि अक्रियार्थ वेदभाग को अनर्थक माना जावेगा तो 'ब्राह्मणो न हन्तव्य' इत्यादि सारे निषेधवाक्य अनर्थक हो जावेंगे। इसलिये वेद की क्रियापरतावाले सिद्धान्त का परिसीमन करना होगा। अक्रियार्थकता से जो आनर्थक्य का विधान किया गया है वह पुरुषार्थानुपयोगी उपाख्यानादि मात्र के विषय मे ही है अन्य के सम्बन्ध में नहीं, यह भाष्यकार का अभिप्राय है। इसी को वे अगली पंक्तियों मे निम्न प्रकार प्रस्तुत करते हैं।

['ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादि स्थलों मे] स्वभावत. प्राप्त हननक्रियारूप अर्थ से निवृत्तिरूप औदासीन्य से भिन्न किसी अन्य [संकल्पादि] क्रिया के साथ नञ् का सम्बन्ध प्रजापति व्रत जैसे अपवादस्थलों को छोड़कर अन्यत्र नहीं माना जा सकता है। [प्रजापति व्रत वाले ऊपर दिये हुये उदाहरण मे तो 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' इत्यादि स्थल पर लक्षणा द्वारा 'उद्यदादित्यदर्शनविरुद्धं संकल्पं कुर्यात्' इत्यादिरूप मे अप्राप्त संकल्परूप क्रिया के साथ सम्बन्ध बन जाता है पर

नञश्चैष स्वभावो यत्स्वसम्बन्धिनोऽभावं बोधयतीति। अभावबुद्धिश्चौदासीन्यकारणम्। सा च दग्धेन्धनाग्निवत्स्वयमेवोपशाम्यति। तस्मात्प्रसक्तक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यमेव 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादिषु प्रतिषेधार्थं मन्यामहे, अन्यत्र प्रजापतिव्रतादिभ्यः। तस्मात्पुरुषार्थानुपयोग्युपाख्यानादिभूतार्थवादविषयमानर्थक्याभिधानं द्रष्टव्यम्। यदप्युक्तं कर्तव्यविध्यनुप्रवेशमन्तरेण वस्तुमात्रमुच्यमानमनर्थकं स्यात् 'सप्तद्वीपा वसुमती' इत्यादिवदिति, तत्परिहृतम्। रज्जुरियं नायं सर्प इति वस्तुमात्रकथनेऽपि प्रयोजनस्य दृष्टत्वात्। न नु श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं संसारित्वदर्श-

प्रजापतिव्रत को छोड़कर अन्य स्थलों मे वैसा सम्बन्ध स्वीकार्य नहीं है इसलिये 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादि स्थलों मे नञ् को प्रसज्यप्रतिषेधात्मक मानकर हनन-क्रियानिवृत्तिरूप औदासीन्य का ही बोध उससे माना जावेगा। और वह निवृत्ति क्रियारूप न होने से अक्रियार्थक, अतएव अनर्थक हो जावेगी, यह दोष होगा] और नञ् का यह स्वभाव है कि जिसके साथ उसका अन्वय होता है उसके अभाव को बोधन करता है [यहां हनन क्रिया के साथ नञ् का सम्बन्ध होता है इसलिये वह हननक्रिया के अभावरूप औदासीन्य को बोधित करता है] और अभाव का बोध औदासीन्य का कारण होता है और वह औदासीन्य बुद्धि दग्धेन्धन अग्नि [अर्थात् जिस अग्नि का इन्धन बलकर समाप्त हो चुका है उस अग्नि] के समान स्वयं ही शान्त हो जाती है। इसलिये प्रजापति व्रत इत्यादि अन्य स्थलों को छोड़कर 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादि स्थलों मे प्राप्त हनन क्रिया से निवृत्तिरूप औदासीन्य को ही हम नञ् का अर्थ मानते हैं। इसलिये [अक्रियार्थक वेदभाग का जो आनर्थक्य कहा गया है वह] आनर्थक्य का कथन पुरुषार्थ के अनुपयोगी उपाख्यान भागादि के लिये ही कहा गया है [अन्यों के लिये नहीं] ऐसा समझना चाहिये।

और जो यह कहा गया था कि कर्त्तव्यविधि के सम्बन्ध के बिना केवल वस्तु [ब्रह्म] का उपदेश मानने पर तो 'सप्तद्वीपा वसुमती' इत्यादि के समान वह [केवल सिद्ध वस्तु का प्रतिपादन] अनर्थक हो जावेगा सो इस दोष का परिहार हम पहले ही कर चुके हैं।। क्योंकि 'यह रज्जु है सर्प नहीं है' इत्यादि रूप मे वस्तुमात्र के कथन से ही [मिथ्याभय की निवृत्ति रूप] फल [प्राप्त होता हुआ] देखा जाता है।

नान्न रज्जुस्वरूपकथनवदर्थवत्त्वमित्युक्तम् । अत्रोच्यते—नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वं शक्यं दर्शयितुं वेदप्रमाणजनितब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वं शक्यं दर्शयितुं वेदप्रमाणजनितब्रह्मात्मभावविरोधात् । नहि शरीराद्यात्माभिमानिनो दुःखभयादिमत्त्वं दृष्टमिति तस्यैव वेदप्रमाणजनितब्रह्मात्मावगमे तदभिमाननिवृत्तौ तदेव मिथ्याज्ञाननिमित्तं दुःखभयादिमत्त्वं भवतीति शक्यं कल्पयितुम् । नहि धनिनो गृहस्थस्य धनाभिमानिनो धनापहारनिमित्तं दुःखं दृष्टमिति तस्यैव प्रव्रजितस्य धनाभिमानरहितस्य तदेव धनापहारनिमित्तं

पूर्वपक्ष—अच्छा, हम भी तो कह चुके है कि ब्रह्म का ज्ञान होने पर ही [सुख-दु खादिमयत्व रूप] ससारित्व पूर्ववत् विद्यमान पाया जाता है इसलिये रज्जु के स्वरूपकथन से सर्पभ्रान्ति की निवृत्ति के समान [ब्रह्मज्ञान से संसारित्व की निवृत्ति नहीं मानी जा सकती है इसलिये] रज्जु के स्वरूपश्रवण के समान [केवल ब्रह्म के प्रतिपादन की] अर्थवत्ता नहीं हो सकती है [यह बात हम भी पहले कह चुके है ।]

उत्तरपक्ष—इस पर हमारा उत्तर यह है कि ब्रह्मज्ञानी को भी यथापूर्व संसारित्व बना रहता है यह बात कभी नहीं मानी जा सकती है क्योंकि ऐसा मानने पर वेद के प्रमाण द्वारा [ब्रह्मज्ञानी की] ब्रह्मरूपताप्राप्ति के साथ विरोध होगा [जो कि उचित नहीं है अतः ब्रह्मज्ञानी को ससारित्व नहीं रहता, ब्रह्मरूपता की प्राप्ति हो जाती है। यही शास्त्रसम्मत सिद्धान्त है। शरीरादि मे आत्माभिमान रखने वाले संसारी पुरुष मे जो दुःखभयादिमत्त्वरूप ससारित्व रहता है वेदप्रमाण द्वारा जीव और ब्रह्म की एकता का निर्णय हो जाने पर [और शरीरादि मे] आत्माभिमानरहित पुरुष को भी उसी प्रकार का मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न दु खभयादिमत्त्व बना रहता है यह बात नहीं कही जा सकती है। जैसे किसी धनी गृहस्थ को जिसे अपने धन मे यह मेरा धन है इस प्रकार अभिमान विद्यमान है उसको धन का अपहरण होने पर दुःख होता है इसलिये उसी के संन्यास ले लेने और धनाभिमान के रहित हो जाने पर उसी प्रकार का धनापहरणजनित दु.ख नहीं होता है [इसी प्रकार शरीर मे आत्माभिमान रहित ब्रह्मज्ञानी को यथापूर्व संसारित्व नहीं रह सकता है] और जैसे

दुःखं भवति । न च कुण्डलिनः कुण्डलित्वाभिमाननिमित्तं सुखं दृष्टमिति तस्यैव कुण्डलवियुक्तस्य कुण्डलित्वाभिमानरहितस्य तदेव कुण्डलित्वाभिमाननिमित्तं सुखं भवति । तदुक्तं श्रुत्या—'अशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (छान्दो० ८।१२।१) इति ।

शरीरे पतितेऽशरीरत्वं स्यात् न जीवत
इति चेन्न,

सशरीरत्वस्य मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वात् । न ह्यात्मनः शरीरात्माभिमानलक्षणं मिथ्याज्ञानं मुक्त्वान्यतः सशरीरत्वं शक्यं कल्पयितुम् । नित्यमशरीरत्वमकर्मनिमित्तत्वादित्यवोचाम ।

तत्कृतधर्माधर्मनिमित्तं सशरीरत्वम् ।

कुण्डल धारण करने वाले को कुण्डल मे अभिमान होने के कारण जिस प्रकार का सुख देखा जाता है उसी प्रकार का सुख कुण्डल से रहित और कुण्डल मे अभिमानरहित पुरुष को कुण्डलत्वाभिमानजनित सुख नहीं होता है। इसी बात को छान्दोग्योपनिषद् मे इस प्रकार कहा है कि—'अशरीर [अर्थात् शरीर मे आत्माभिमानरहित] हो जाने पर सुख-दुःख का स्पर्श नहीं होता ।

प्रश्न—['अशरीरं वाव सन्तं०' मे जो अशरीरावस्था कही गई है वह] शरीर के नष्ट होने पर हो अशरीरत्व बन सकता है [उससे पहले] जीवितावस्था मे नहीं ।

उत्तर—यदि ऐसा कहो तो उचित नहीं है । सशरीरत्व [आत्मा में वास्तविक नहीं अपितु] मिथ्या ज्ञान निमित्तक ही है । क्योंकि शरीर मे आत्माभिमानरूप मिथ्या ज्ञान को छोड़ कर अन्य किसी कारण से आत्मा मे सशरीरत्व की कल्पना करना उचित प्रतीत नहीं होता [आत्मा मे सशरीरत्व] कर्मनिमित्तक न होने से [अर्थात् मिथ्या ज्ञान निमित्तक होने से] नित्य अशरीरत्व है यह बात हम पहले कह चुके हैं ।

पूर्वपक्ष—उस [जीवात्मा] के द्वारा किये गये धर्माधर्म से उत्पन्न सशरीरत्व [वास्तविक] है ।

उत्तर—यदि यह कहो तो वह भी उचित नहीं है क्योंकि [आत्मा के साथ] शरीर का ही सम्बन्ध सिद्ध न होने से उसके द्वारा किये गये धर्माधर्म

इति चेन्न, शरीरसंबन्धस्यासिद्धत्वाद्धर्माधर्मयोरात्मकृतत्वासिद्धेः। शरीरसम्बन्धस्य धर्माधर्मयोस्तत्कृतत्वस्य चेतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गादन्धपरम्परैषाऽनादित्वकल्पना। क्रियासमवायाभावाच्चात्मनः कर्तृत्वानुपपत्तेः।

संनिधानमात्रेण राजप्रभृतीनां दृष्टं कर्तृत्वम्।

इति चेन्न, धनदानाद्युपार्जितभृत्यसम्बन्धित्वात्तेषां कर्तृत्वोपपत्तेः। न त्वात्मनो धनदानादिवच्छरीरादिभिः स्वस्वामिसंबन्धनिमित्तं किंचिच्छक्यं कल्पयितुम्। मिथ्याभिमानस्तु प्रत्यक्षः सम्बन्धहेतुः। एतेन यजमानत्वमात्मनो व्याख्यातम्।

अत्राहुः—देहादिव्यतिरिक्तस्यात्मन आत्मीये देहादाव-

की संगति भी नहीं लगती है। शरीरसम्बन्ध और धर्माधर्मकर्तृत्व दोनों मे अन्योन्याश्रय दोष होने से उनके अनादित्व की यह कल्पना केवल अन्ध परम्परा मात्र है। और [आत्मा मे] क्रिया के न रहने से आत्मा को कर्त्ता मानना भी उचित नहीं है।

पूर्वपक्ष—[भृत्यों के कार्यों में] सन्निधान मात्र से राजा आदि का कर्तृत्व देखा जाता है [अर्थात् युद्ध मे योद्धाओं मे विद्यमान जय और पराजय राजा का जय और पराजय माना जाता है] इसलिये शरीरादि के साथ सन्निधान मात्र से आत्मा मे कर्तृत्व बन सकता है।

उत्तर—यदि ऐसा कहो तो वह भी उचित नहीं है क्योंकि वहाँ धन दानादि द्वारा भृत्य सम्बन्ध को सम्पादित करने के कारण [योद्धाओं के जय-पराजय मे राजादि का] कर्तृत्व बन सकता है किन्तु धनदानादि के समान आत्मा का शरीरादि के साथ स्वस्वामिभाव सम्बन्ध कल्पना करने का [उपार्जित कर्तृत्व मानने का] भी कोई आधार नहीं है। और मिथ्याभिमान [शरीरादि के साथ आत्मा के] सम्बन्ध का प्रत्यक्ष दिखलाई देने वाला हेतु है। इसी के द्वारा आत्मा के यजमानत्व की भी व्याख्या हो गई [अर्थात् जैसे आत्मा मे सशरीरत्व मिथ्या ज्ञान निमित्तक है इसी प्रकार यजमानत्व भी मिथ्याज्ञाननिमित्तक ही है।]

गौण और मिथ्या का भेद—

पूर्वपक्ष—इस पर कुछ लोग कहते हैं कि देहादि से भिन्न आत्मा को अपने शरीरादि में जो अभिमान होता है वह गौण कहा जा सकता है, मिथ्या नहीं।

भिमानो गौणो न मिथ्येति चेन्न, प्रसिद्धवस्तुभेदस्य गौणत्व-मुख्यत्वप्रसिद्धेः। यस्य हि प्रसिद्धो वस्तुभेदः, यथा केसरादिमानाकृतिविशेषोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिंहशब्दप्रत्ययभाङ्मुख्योऽन्यः प्रसिद्धः, ततश्चान्यः पुरुषः प्रायिकैः क्रौर्यशौर्यादिभिः सिंहगुणैः संपन्नः सिद्धः, तस्य पुरुषे सिंहशब्दप्रत्ययौ गौणौ भवतो नाप्रसिद्धवस्तुभेदस्य। तस्य त्वन्यत्रान्यशब्दप्रत्ययो भ्रान्तिनिमित्तावेव भवतो न गौणौ। यथा मन्दान्धकारे स्थाणुरयमित्यगृह्यमाणविशेषे पुरुषशब्दप्रत्ययौ स्थाणुविषयौ, यथा वा शुक्तिकायामकस्माद्रजतमिति निश्चितौ शब्दप्रत्ययौ, तद्वद्देहादिसंघातेऽहमिति निरुपचारेण शब्दप्रत्ययावात्मानात्माविवेकेनोत्पद्य-

---

उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि जहां वस्तु का भेद ज्ञात होता है वहीं गौणत्व और मुख्यत्व का व्यवहार होता है। जिसको अन्वय व्यतिरेक से [सिंह तथा पुरुषरूप] वस्तुओं का भेद ज्ञात है जैसे अन्वय व्यतिरेक से केसर [अयाल अर्थात् गर्दन पर के बाल] आदि से युक्त मुख्यरूप से सिंह शब्द के प्रयोग का पात्र आकृतिविशेष [पुरुष से] भिन्नरूप मे ज्ञात है और उससे भिन्न अधिकांश में पाये जाने वाले [सिंह के समान] शौर्य एव क्रूरतादि धर्मों से युक्त पुरुष अलग से ज्ञात है उस [व्यवहारकर्त्ता] को पुरुष मे जो सिंह शब्द का प्रयोग है वह गौण प्रतीत होता है किन्तु जिसको [सिंह तथा पुरुषरूप] वस्तुओ का भेद ज्ञात नहीं है उसके लिये अन्यत्र [अर्थात् पुरुष मे] अन्य [अर्थात् सिंह] शब्द का प्रयोग तथा ज्ञान भ्रान्तिनिमित्तक [अतएव मिथ्या] ही होता है गौण नहीं वहां उस [वस्तुभेद को न जानने वाले पुरुष] के द्वारा [पुरुष के लिये] सिंह शब्द का प्रयोग तथा [सिंह शब्द से पुरुष का] ज्ञान दोनों ही मिथ्या होते हैं गौण नहीं। जैसे हलके अन्धकार के समय यह स्थाणु [अर्थात् वृक्ष का ठूँठ] है इस प्रकार का विशेष अर्थ का ग्रहण न होने पर स्थाणु के लिये पुरुष शब्द का प्रयोग अथवा ज्ञान [मिथ्या ही होते हैं गौण नहीं] अथवा जैसे शुक्ति में अकस्मात् प्रतीत होने वाले रजत शब्द का प्रयोग एवं ज्ञान [मिथ्या ही होते हैं गौण नहीं] इसी प्रकार देहादि के संघात मे उपचार [अर्थात् वस्तुभेद के ज्ञान] के बिना ही [आत्म शब्द का] प्रयोग तथा ज्ञान आत्मा और अनात्मा [अर्थात् देहादि] के अविवेक [अर्थात् पृथक्ता के ज्ञान के बिना] उत्पद्य-

मानौ कथं गौणौ शक्यौ वदितुम् । आत्मानात्मविवेकिनामपि पण्डितानामजाविपालानामिवाविविक्तौ शब्दप्रत्ययौ भवतः । तस्माद्देहादिव्यतिरिक्तात्मास्तित्ववादिनां देहादावहंप्रत्ययो मिथ्यैव न गौणः । तस्मान्मिथ्याप्रत्ययनिमित्तत्वात्सशरीरत्वस्य सिद्धं जीवतोऽपि विदुषोऽशरीरत्वम् । तथा च ब्रह्मविद्विषया श्रुतिः—'तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेते । अथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव' (बृह० ४।४।७) इति । 'सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव सवागवागिव समना अमना इव सप्राणोऽप्राण इव' इति च । स्मृतिरपि च 'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' (भ० गी० २।५४) इत्याद्या स्थितप्रज्ञलक्षणान्याचक्षाणा विदुषः सर्वप्रवृत्त्यसंबन्धं

मान होकर गौण कैसे कहला सकते हैं [अर्थात् गौण नहीं अपितु मिथ्या ही होते हैं] । आत्मा और अनात्मा के भेद को जानने वाले नैयायिक आदि पण्डितों को भी भेड़ बकरी पालने वाले [गड़ेरियों] के समान बिना भेद के शरीरादि के लिये आत्मा आदि शब्दों का प्रयोग तथा ज्ञान [मिथ्या ज्ञानरूप] होते है । इसलिये देह से अतिरिक्त आत्मा मानने वाले [नैयायिक आदि] के यहाँ भी देहादि मे अहंकार ज्ञान तथा शब्दप्रयोग मिथ्या ही होता है गौण नहीं । इसलिये [आत्मा में] सशरीरत्व के मिथ्याभिमान निमित्तक सिद्ध हो जाने पर जीवित रहने पर भी [देहादि मे आत्माभिमानरहित] विद्वान का अशरीरत्व बन सकता है । इसीलिये ब्रह्मज्ञानी के विषय में श्रुति अर्थात् उपनिषद्वाक्य मे कहा गया है कि जैसे साँप की केंचुली [उसके भीतर से साँप के निकल जाने के बाद] बाम्बी मे मृत के सदृश पड़ी रह जाती है इसी प्रकार [शरीर मे अभिमान समाप्त हो जाने के बाद] यह शरीर पड़ा रह जाता है और [उसमे रहने वाला] यह [आत्मा] अशरीर, अमृतस्वरूप, प्राणस्वरूप एवं तेजस्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है' (बृह० ४।४।७) और आँखें रहते हुये भी चक्षुविहीन के समान, [सांसारिक व्यवहार को न देखने वाला], कानों के रहते हुये भी कानों से विहीन के समान, वाणी रहते हुये भी मूक के समान, मन से युक्त होने पर भी मन से विहीन के समान, प्राणयुक्त होने पर भी प्राणरहित के समान यह भी [ब्रह्मज्ञानी के विषय में कहा गया है] और 'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' इत्यादि रूप में स्थितप्रज्ञ के

दर्शयति। तस्मान्नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वम्। यस्य तु यथापूर्वं संसारित्वम् नासाववगत ब्रह्मात्मभाव इत्यनवद्यम्।

यत्पुनरुक्तं श्रवणात्पराचीनयोर्मननिदिध्यासनयोर्दर्शनाद्विधिशेषत्वं ब्रह्मणो न स्वरूपपर्यवसायित्वमिति। न। श्रवणवत् अवगत्यर्थत्वान्मननिदिध्यासनयोः। यदि ह्यवगतं ब्रह्मान्यत्र विनियुज्येत भवेत्तदा विधिशेषत्वम्। न तु तदस्ति, मनननिदिध्यासनयोरपि श्रवणवदवगत्यर्थत्वात्। तस्मान्न प्रतिपत्तिविधिविषयतया शास्त्रप्रमाणकत्वं ब्रह्मणः संभवतीत्यतः स्वतन्त्रमेव ब्रह्म शास्त्रप्रमाणकं वेदान्तवाक्यसमन्वयादिति सिद्धम्। एवं च सति 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति तद्विषयः पृथक्शास्त्रारम्भ उप-

---

लक्षणों को दिखलाती हुई [गीतारूप स्मृति भी ब्रह्मज्ञानी के लिये समस्त प्रवृत्तियों के सम्बन्धाभाव को सूचित करती है] इसलिये जिसको जीवात्मा की ब्रह्मरूपता का ज्ञान हो गया है उसके लिये यथापूर्व [सुखदुखमयत्वादिरूप] संसारित्व नहीं रह सकता है। और जिसको [यथापूर्व] ससारित्व बना रहता है उसे ब्रह्मज्ञान ही नहीं हुआ [यह समझना चाहिये] इस प्रकार यह सब विषय स्पष्ट हो गया।

पूर्वपक्ष—और जो [पूर्वपक्ष मे] यह कहा गया था कि श्रवण के बाद मनन तथा निदिध्यासन का विधान पाये जाने से ब्रह्म [उपासना] विधि का अग है। स्वरूप मात्र मे उसका पर्यवसान नहीं होता है।

उत्तरपक्ष—यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि मनन और निदिध्यासन ब्रह्मज्ञान के उपायरूप हैं [ब्रह्मज्ञान के साध्य नहीं, साधनरूप है]। यदि ब्रह्मज्ञान के बाद उसका अन्यत्र [अर्थात् उपासनादि में] विनियोग किया जाय तब तो उसे विधि का अंग कहा जा सकता है। किन्तु वैसी बात नहीं है क्योंकि श्रवण के समान मनन और निदिध्यासन भी ब्रह्मज्ञान के लिये [साधनभूत] होते हैं। इसलिये उपासना विधि के अंगरूप में शास्त्र द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन सम्भव नहीं है अतएव स्वतन्त्र रूप से ही उपनिषद्वाक्यों द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन किया जाता है यह बात उपनिषद्वाक्यों के समन्वय से सिद्ध होती है। इसीलिये 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्र से [पूर्वमीमासा से भिन्न] शास्त्र का आरम्भ उचित प्रतीत होता है।

पद्यते । प्रतिपत्तिविधिपरत्वे हि 'अथातो धर्मजिज्ञासे' त्येवारब्ध-त्वान्न पृथक् शास्त्रमारभ्येत । आरभ्यमाणं चैवमारभ्येत— 'अथातः परिशिष्टधर्मजिज्ञासेति', 'अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयो-र्जिज्ञासा' (जै० ४।१।१) इतिवत् । ब्रह्मात्मैक्यावगतिस्त्वप्रति-ज्ञातेति तदर्थो युक्तः शास्त्रारम्भः—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति । तस्मादहं ब्रह्मास्मीत्येतदवसाना एव सर्वे विधयः सर्वाणि चेतराणि प्रमाणानि । न ह्यहेयानुपादेयाद्वैतात्मावगतौ निर्विषयाण्यप्रमातृ-काणि च प्रमाणानि भवितुमर्हन्तीति । अपि चाहुः—

गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादिबाधनात् ।
सद्ब्रह्मात्माहमित्येवं बोधे कार्यं कथं भवेत् ॥

और यदि [ब्रह्म उपासना विधि का अंग होता तो 'अथातो धर्मजिज्ञासा' से ही शास्त्रारम्भ की प्रतिज्ञा की जा चुकी थी उसके लिये अलग शास्त्रारम्भ की आवश्यकता नहीं होती । अथवा [पृथक् शास्त्र का] आरम्भ यदि किया ही जाता तो वह इस प्रकार होता कि 'अथातः परिशिष्टधर्मजिज्ञासा' जैसे [पूर्वमीमासा के अवान्तर प्रकरण के रूप मे] 'अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा' (जै० ४।१।१) यह [चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में नये प्रकरण का आरम्भ किया गया है]। किन्तु ब्रह्म [अर्थात् ईश्वर] आत्मा [अर्थात् जीवात्मा] के ज्ञान की प्रतिज्ञा पहिले नहीं की गई है इसलिये उसके निमित्त ['अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्र से पृथक्] शास्त्रारम्भ उचित ही है । इसलिये सारी विधियाँ और अन्य सारे प्रमाण 'मैं ब्रह्म हूँ' इस साक्षात्कारात्मक ज्ञान में ही परिसमाप्त होते हैं । अहेय और अनुपादेय [विधि और निषेध के अविषयभूत] ब्रह्म और आत्मा का ज्ञान हो जाने पर प्रमातृत्वविहीन तथा प्रमेयहीन होकर प्रमाण नहीं टिक सकते हैं जैसा कि कहा भी है ।

'मैं सद्ब्रह्मरूप हूँ' इस प्रकार का [साक्षात्कारात्मक] ज्ञान हो जाने पर पुत्र [मे गौणात्मत्व] तथा देह [में मिथ्यात्मत्व] के बाधित हो जाने से जब न गौण आत्मा रहता है और न मिथ्या आत्मा ही रहता है [शुद्ध ब्रह्मरूप एक आत्मा रह जाता हैं तब कर्त्ता कर्म आदि का भेद या उपास्य उपासक आदि का भेद समाप्त हो जाने से उपासनादि रूप या कर्मकाण्डादिरूप] कार्य कैसे सम्भव हो सकता है [अर्थात् ब्रह्मज्ञान हो जाने के बाद न पुत्रादि में गौण आत्मबुद्धि

अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात्प्राक्प्रमातृत्वमात्मनः ।
अन्विष्टः स्यात्प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जितः ॥
देहात्मप्रत्ययो यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पितः ।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वाऽऽत्मनिश्चयात् ॥ इति ॥४॥

रहती है और न देहादि मे मिथ्याभिमान निमित्तक मिथ्यात्म बुद्धि रहती है तब अद्वितीय ब्रह्म के ज्ञान से उपास्य-उपासक कर्त्ताकर्म आदि का सारा भेद मिट जाने से न उपासना का अनुष्ठान हो सकता है और न कर्मकाण्ड का]।

अन्वेष्टव्य आत्मा के साक्षात्कार के पहले ही आत्मा को 'प्रमाता' कहा जाता है और उसका ज्ञान [अन्विष्टः] हो जाने पर वह प्रमाता ही पाप और दोषों से रहित विशुद्ध ब्रह्मरूप हो जाता है।

जैसे लोक मे देह मे आत्मबुद्धि को [वस्तुतः प्रामाणिक न होने पर भी] प्रमाणरूप से कल्पित माना जाता है इसी प्रकार यह सब [प्रमाणादि वस्तुतः प्रमाणरूप न होने पर भी आ आत्मनिश्चयात्] आत्मज्ञानपर्यन्त प्रमाण रहते हैं [आत्मज्ञान होने के बाद उनका प्रमाणत्व स्वतः समाप्त हो जाता है]।

इति चतुःसूत्री समाप्ता।